श्रेय

'परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ'

भारतीय साहित्यकार संघ की मुख पत्रिका

अंक ४

पौष २०२७ विक्रमी

संपादक :

डॉ० रामदत्त भारद्वाज • मोहनलाल श्रीवास्तव

सौन्दर्यं साहितीनां जगति भरतभूनिर्मितानां नितान्तं ।
भूयात् सञ्चारयन्ती प्रयतमतिरियं पत्रिका विश्ववन्द्या ।।
पन्थानं दर्शयन्ती स्वरसमधुरिमापूरितं श्रेयसः स्वं ।
श्रेयोनाम्ना प्रसिद्धा गमयतु सुयशःसाहितीकारसङ्घम् ।।

आचार्य अमृतवाग्भव

अंक ४—पौष २०२७ वि० मूल्य १.५० प्रति – ५.०० वार्षिक

संपादकीय कार्यालय—१७ए, बैंक इन्क्लेव, राजौरी गार्डन, नई दिल्ली–२७
दूरभाष : ५८६८८५

पाठकों की लेखनी से

पत्रिका के सुयोग्य सम्पादकों ने जन-जन को श्रेय से परिचित कराने का निश्चय कर निस्सदेह एक गुरु-गम्भीर दायित्व अपने ऊपर लिया है। समाज उनके प्रति चिर ऋणी रहेगा। अंक की सभी सामग्री मुझे सुन्दर लगी।

स्वामी तिलक,
(भूतपूर्व संपादक पांचजन्य)
सुवा, फिजी

●

आपकी पत्रिका में आज के साथ-साथ हमारा विगत भी पूर्ण गरिमा से सशक्त रूप में उभरा है। अतः बधाई स्वीकार करें।

डॉ० सतीश गर्ग,
डी. ए. वी. कालिज, नई दिल्ली

●

त्रैमासिक 'श्रेय' का द्वितीय अंक (आषाढ़ २०२० वि०) का अनुशीलन मनोमुकुर को विशदीभूत करने वाला है। सम्प्रति राष्ट्र एवं राष्ट्रभाषा की जो विशृङ्खल स्थिति है, उसको देखते हुए 'श्रेय' का प्रकाशन विस्मय में डाल देता है। 'पूर्णात् पूर्णमुदच्यते' के सन्दर्भ में, पूर्ण से प्रार्थना है कि वह 'श्रेय' से श्रेय प्रदान करे!

डॉ० रामप्रसाद मिश्र,
डी. ए. वी. कालिज, नई दिल्ली-५५

●

श्रेय के प्रायः सभी लेख शोधपूर्ण और उच्च स्तर के हैं। आशा है भारतीय साहित्यकार संघ के उदात्त आदर्शों के प्रचार में, यह पत्रिका अपना दायित्व पूर्ण-रूपेण निभाएगी। इस सुन्दर सम्पादन और प्रकाशन के लिए मेरी बधाई स्वीकार करें।

डॉ० फतहसिंह,
कोटा (राज.)

●

श्रेय में श्रम सार्थक सभी लेख चिन्तन से दीप्त और मौलिकता से प्रफुल्ल हैं। सांस्कृतिक उत्थान की अदम्य प्रेरणा आशा से भर देती है।

डॉ० रामप्रकाश अग्रवाल,
मेरठ कालिज, मेरठ।

●

BHANDARKAR ORIENTAL RESEARCH INSTITUTE,
POONA-4, LIBRARY

I have the pleasure to acknowledge the receipt of your 'श्रेय', अंक २, आषाढ़ २०२७. We shall be glad to receive your magazine as a gift to our Library in future.

V. L. Manjul,
Librarian

अन्तर्वस्तु

सम्पादकीय

हिन्दू तत्त्वज्ञान का पर्याय भारतीय चिन्तन है जिसका कभी अप्रतिम रूप से विश्व-व्यापी प्रभाव था। राष्ट्रीय आकांक्षा एवम् ज्ञान-गरिमा समर्थन तथा जातीय पुनर्जागरण के लिए विश्व के अन्यान्य क्षेत्रों में हिन्दू तत्त्वज्ञान, जीवन-पद्धति, कला एवम विज्ञान के प्रभाव का अन्वेषण और प्रसार अपने में श्लाघ्य है; परन्तु ऐसे कार्य में ऐतिहासिक आधार और शास्त्रीय निकष को ध्यान में रखना सर्वथा अभीष्ट होगा। भारत में उत्पन्न विचार हिन्दु मूल चिंतन से सम्पृक्त रहा है और जब कभी इसमें व्यवधान उपस्थित हुआ तभी अराष्ट्रीयता के लिए नूतन आधार निर्माण हो गया। बौद्ध-दर्शन हिन्दू-दर्शन की एक धारा है। इसको पृथक्-पृथक् करके सोचने की प्रवृत्ति किसी भी रूप में हितकारी नहीं होगी।* चिन्तन का पार्थक्य विभाजन का पुष्ट आधार बन जाता है। बौद्ध-दर्शन का आविर्भाव आत्म-चिंतन एवम् मोक्ष-प्राप्ति की प्रबद्धता में हुआ है। मोक्ष हिन्दू-चिंतन, साहित्य, कला, संगीत आदि का चरम लक्ष्य है। यदि भारतीय-पुनर्जागरण एवम् राष्ट्रीयता के प्रबोधक, ईसाई विद्वानों द्वारा भारतीय चिंतन पर आक्रमण की युद्ध-नीति को नहीं समझेंगे तो राष्ट्रिय आन्दोलन एवम् चिंतन के दिशा-निर्देशन में वे पूर्णत: असफल रहेंगे।

ईसाई विद्वानों ने प्रागैतिहासिक (prehistoric) युग की अपनी कल्पना के अनुसार भारतीय संस्कृति और सभ्यता का मूल्यांकन किया है। स्व० पं० भगवद्दत सहित भारत के अनेक इतिहासविदों ने प्रागैतिहासिकता के सिद्धान्त को निराधार बताया है। ऐसे विवादात्मक सिद्धान्तों पर आधृत मतों से भारतीय अतीत के गौरव-पूर्ण इतिवृत्त का समर्थन प्राप्त करने वाली संस्थाएं अपने को राष्ट्रीय आकांक्षा की एकमात्र प्रतिनिधि इकाई भले ही मानती रहें परन्तु यह स्पष्ट होता जा रहा है कि राष्ट्रीय संरचना में स्वत्व एवम् उसके शुद्ध आधारों से वे या तो अपरिचित हैं या विदेशियों के बौद्धिक इन्द्रजाल से निकलने की उनमें क्षमता नहीं है। प्रागैतिहासिक

* India's Contribution to World Thought and Culture. P. 123. Published by Vivekanand Rock Memorial Committee, Madras.

युग (prehistoric age) तथा विकासवाद (Theory of Evolution) दोनों आधारों को भारतीय इतिहास का निकष स्वीकार नहीं किया जा सकता। ये सिद्धान्त स्वत: आधारहीन एवम् आत्मकेन्द्रित तथ्यों पर खड़े हैं।

★★★

यही स्थिति भाषायी-राजनीति के व्यामोह में फंसे लेखकों की है। संस्कृत एवम् प्राकृत साहित्य में कल्याण एवम् मोक्ष-चिंतन की एकता भारतीय मानस की रचना का स्पष्ट आधार प्रस्तुत करती है। संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत की प्राचीनता, मौलिकता तथा वाक्-शक्ति पर साहित्यिक विवादों की भूमिका स्थापित करके भारतीय मानस का विभाजन कुछ लेखकों के लिए लाभदायक हो सकता है परन्तु स्वराष्ट्रीय आकांक्षा की भित्तियां इससे निरन्तर क्षीण होंगी। संस्कृत को सुसंस्कारित भाषा बताकर यह सिद्ध किया जा रहा है कि इसका विस्तार प्राकृत के पश्चात् हुआ है। यह तर्क निराधार है, दोनों का प्रचलन देश-काल जन्य स्थिति एवम् सामाजिकता पर आवृत हैं। मूल स्वर अथवा वाक् परम शुद्ध है इसके सुसंस्कार का प्रश्न संदिग्ध है। ईसाई भाषा वैज्ञानिकों का भाषा-विश्लेषण-पक्ष भ्रमपूर्ण है। जैनमतावलम्बी प्राकृत प्रेमी लेखकों को किसी आन्दोलन का नहीं अपितु विवेक एवम् शुद्ध प्रमाणसम्मत विचार का समर्थन करना चाहिए।

★★

लुधियाने की एक नवोदित राष्ट्रवादी संस्था 'साहित्य परिषद्' की गोष्ठी में "अनुवाद एवम् अनुकरण" की प्रवृत्ति को राष्ट्र के लिए भयावह बताते हुए उसकी निन्दा की गई है। सम्भवत: गोष्ठी के लोगों ने श्रेष्ठ अनूदित साहित्य की राशि-राशि उपादेयता की ओर ध्यान देना आवश्यक नहीं समझा। भारतीय साहित्य का विदेशी भाषा में किया गया प्रामाणिक अनुवाद और विदेशों में भारतीय साहित्य की मूल-धारा का अनुशीलन एवम् तदनुकूल सर्जन किस भारतीय को प्रिय न होगा। इसी प्रकार विदेशी सत् साहित्य का भारत में आगमन अशुभ नहीं कहा जाएगा। खेद का विषय है कि दल-केन्द्रित दृष्टि-कोणों की अन्धा-धुन्ध प्रचार व्याकुलता के कारण स्वस्थ चिंतन की उपेक्षा हो रही है। यह किसी भी स्थिति में शुभ नहीं है। छोटी-छोटी संस्थाएं किसी विशेष दल के पोषण के लिए खड़ी की जाती हैं और विशेष दल विशेष हितों की रक्षा करते हैं।

राष्ट्रसेवा की अनुभूति और प्रामाणिक संकल्प यदि उपेक्षित रहे तो परिणाम-वादी समन्वय साधकों का समन्वयवाद उन्हें स्वयं लताड़ेगा।

★

इंडोनीसिया के छायानाटक वायाङ्

● डॉ० सुदर्शना देवी, डी० लिट्०

मानव की कोमल और सुमधुर भावनाएं जहां धर्म और कला को अनुप्राणित करती हैं वहीं उसके आदर्श, उच्चविचार और संस्कृति अपनी अभिव्यक्ति पाते हैं। हृदय और मस्तिष्क का सम्मिश्रण धर्म से ओतप्रोत कला में सर्वत्र दृश्य है। द्वीपान्तर (इंडोनीसिया) में भी सस्कृति की अभिव्यक्ति केवल साहित्य मे ही नहीं, अपितु वहां की गौरवमयी आध्यात्मिक, सार्थ, विशिष्ट कला में भी हुई है। जावा की कला का श्रेष्ठतम प्रतीक, शिल्पकला का भण्डार बोरोबुडूर तद्देशीय कलाकारों की कलाकुशलता का सुन्दरतम भव्य निदर्शन है। भगवान् बुद्ध के पवित्र जीवनदृश्यों और उपदेशों से उत्कीर्ण शिलाएं मुखर हो उठी हैं—कठोर अश्ममय पर्वतशिला को मूर्तिकार की कला ने स्मितमुखी बना दिया है। मूर्तिकार की कला शिला मे आश्रय पाकर अमर हो गई है। पर्वत के नवरूपावतार में चित्रों का भी योगदान है और चित्रों के अमरत्व में शिला का अमरत्व है। अब पत्थर जड़ नहीं रहा, चेतन बन गया है। पारलौकिक प्रकाश की रश्मिमाला का उद्भासनपिण्ड बन गया है। अनन्त, अमितायु, शान्ति और पारमिता प्रज्ञा का सन्देशवाहन बन चुका है॥"

द्वीपान्तर का वाद्यवृन्द गामेलन् कहलाता है। २४ कलाकारों द्वारा बजाया जाने वाला यह विभिन्नवाद्यों का कर्णप्रिय समूहगान है। इन वाद्यों में एक वाद्य का नाम रावणहस्त विशेष उल्लेखनीय है। नृत्य का जावा के मनोरंजन में विशेष स्थान है। १२ वर्षीय भोली और संसार के छलकपट से अनभिज्ञ शुद्धहृदया बालाएं मन्दिर में भगवान् के सम्मुख लय और ताल पर गम्भीर अभिनय करती हैं। कला यहां शृंगार नहीं, अध्यात्म है।

द्वीपान्तर के छाया-नाटक बहुत रोचक हैं। जावा, बालि, लम्बॉक्, मलय आदि द्वीपों के मनोरंजन का यह भव्य प्रतीक "वायाङ्" कहलाता है। ये नाटक ७ प्रकार के हैं। इनका हम तीन शीर्षकों के अन्तर्गत वर्गीकरण कर सकते हैं—(१) मनुष्यों

द्वारा खेले जाने वाले नाटक । ये मुख्यत: दो प्रकार के हैं—मुखौटे लगा कर, और राजा अथवा महान् जनों के सम्मुख बिना मुखाकृतियाँ लगाए । मुखाकृतियां लगाकर खेले जाने वाले नाटक तोपेङ् तथा दूसरे वायाङ् वोङ् (वों मनुष्य) कहलाते हैं। वायाङ् वोङ् का अर्थ है—मनुष्यों द्वारा अभिनीत नाटक। इनका प्रचलन १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से हुआ है—अब हम तीसरे प्रकार के वायाङ् पर आते हैं। ये छायानाटक हैं। वायाङ् शब्द का अर्थ है वह छायानाटक जिसमें महिष अर्थात् भैंसे के चमड़े से बनी सुवर्णाभ तथा रंग-बिरंगी पुत्तलिकाएं अभिनय करती हैं। इसी कारण यह "वायाङ् कुलित्" भी कहलाता है। कुलित् का अर्थ है चर्म। इन छायानाटकों की कथावस्तु का स्रोत भारत के दो प्रथित काव्य आदिकाव्य रामायण एवं राजनीति, लोकधर्म, सदसत् का निरूपण करने वाला बृहद् काव्य महाभारत हैं। मनुष्यों द्वारा अभिनीत वायाङ् वोङ् भी इन्हीं काव्यों में से उद्धृत कथाओं पर आधारित होते हैं।

इन छायानाटकों का द्रष्टा इनके द्वारा केवल मनोरंजन ही नहीं करता वह इनके नैतिक अर्थ को भी जानता है। दक्षिण ओर के अभिनेता सत् का पक्ष लेने वाले हैं। वे प्रारम्भ में वाम भाग के असत् कुटिल अधर्मी पात्रों द्वारा अभिभूत होते हैं। पर अन्त में सत्यमेव जयते के अनुकूल सत् पक्ष विजयी होता है। अधर्म पर धर्म की विजय, असत् से सत् की श्रेष्ठता, कुप्रवृत्तियों पर मानवीय सुप्रवृत्तियों की विजय का ये छायानाटक प्रतीक अभिनय हैं।

इतना ही नहीं मानवजीवन की विभिन्न अवस्थाएं और तत्कालीन प्रवृत्तियाँ भी इन नाटकों में प्रतिबिम्बित हैं। तीन अंकों में खेले जाने वाले वायाङ् के प्रथम भाग यौवन और उत्तेजना का निदर्शन है। दूसरा भाग विचार की ओर अग्रसर मानव की यौवनपरा अवस्था की अभिव्यक्ति करता है तो तीसरा और अन्तिम भाग वृद्धावस्था अर्थात् ज्ञान एवं विवेक का प्रतिबिम्ब है।

कथावस्तु जीवन की विभिन्न अवस्थाओं का चित्रण करती है और रंगभूमि जीवन की रंगभूमि बन जाती है। रंगभूमि की श्री में वृद्धि करने वाले कदलीवृक्ष पृथ्वी के तल हैं जहां पर पात्र, जिन की जीवनडोर "डलङ्" के हाथों में थमी है, दूसरे की अंगुलियों की शक्ति पर अपना उचित-अनुचित निर्धारित कार्य करते चले जाते हैं। डलङ् के हाथों में अपनी जीवनडोर देकर ही तो ये चर्म-निर्मित पात्र जीवन पाते हैं। इनका जीवन उसी पर आश्रित है। और दूसरी ओर डलङ् का अस्तित्व इन

निर्जीव कठपुतलियों पर निर्भर है, जिनके माध्यम से वह अपनी क्षमता और शक्ति का परिचय प्राप्त करता है। बस, इसी प्रकार मानव भगवान् पर आश्रित है और भगवान् मानव द्वारा ही अपनी अभिव्यक्ति पाते हैं। ईश्वर और सृष्टि अन्योन्याश्रित हैं। एक दूसरे की पूर्ति करने वाले ये दोनों तत्व दर्शन की भाषा में चेतन और अचेतन के द्विविध परमतत्वों के नाम से विख्यात हैं—

द्विविधं तत्त्वं परमं चेतनमचेतनञ्च।
व्याप्नोति सर्वतत्त्वेषु सूक्ष्ममुन्नेयं यत्नतः॥
(कवि भाषा का ग्रन्थ बृहस्पति-तत्त्व श्लोक ६)

वायाङ् नाटक देखना पुण्य माना जाता है। रात्रिभर खेले जाने वाले वायाङ् में द्रष्टा यदि बीच में सो भी ले तब भी वह भूतप्रेत के प्रभाव से उस रात्रि को मुक्त माना जाता है। इस प्रकार वायाङ् केवल मनोरंजन मात्र न होकर जीवन के आध्यात्मिक आदर्शों को दृश्य रूप में प्रकट करने के साथ साथ सामाजिक उत्सव का भी स्थान ले लेता है। जन्मोत्सव, पाणिग्रहणसंस्कार और विशेष पूज्यजनों के सम्मान में इस नाटक का रात्रिभर अभिनय होता है। यह केवल वायाङ् नहीं "वायाङ्पूर्व" कहलाता है। जिसमें चमड़े की बनी कठपुतलियाँ पात्र और कथावस्तु रामायण और महाभारत से ली जाती हैं। यही वायाङ्पूर्व अधिक प्रचलित एवं लोकप्रिय है।

वायाङ् के विविध प्रकार—वायाङ्पूर्व वायाङ् का सर्वप्रथित रूप है। "वायाङ् गेडोग्" में चर्मपुतलियाँ जावा के हिन्दू राजाओं के समय के ऐतिहासिक दृश्यों का अभिनय करने वाले नाटक हैं परन्तु यह कभी कभी ही खेला जाता है।

"वायाङ् क्लिटिक्" वे छाया नाटक हैं जिन में सुचारुरूपेण रंगी हुई सुन्दर काष्ठपुत्तलिकाएं रहती हैं किन्तु इन की भुजाएं चर्मनिर्मित होती हैं। मजपहित् राज्य की प्रसिद्ध कथा दमर् वुलन् विशेषतः कथावस्तु रहती है। यह वायाङ् गेडोग् की अपेक्षा अधिक प्रचलित होते हुए भी वायाङ्पूर्व के समान लोकप्रिय नहीं हैं।

वस्त्र की बनी हृष्टपुष्ट गोलमटोल पुतलियों से खेला जाने वाला छाया-नाटक" वायाङ् गोलेंक्" कहलाता है। यद्यपि जावा के पश्चिमी भागों में इसका अधिक प्रचलन है तथापि इस का उद्भव मध्य जावा में इस्लाम के आगमन से सम्बद्ध है।

"वायाङ् बॅबॅर्" का अभिनय उपरिलिखित सभी वायाङों से भिन्न है। एक लम्बे पृष्ठ अथवा वस्त्र पर चित्र बना कर लम्बे गोल दण्ड पर लपेट दिया जाता है। अभिनय के समय इस दण्ड से उस पर कपड़ा लपेटा जाता है। मध्यस्थ वस्त्र का पट अपेक्षित दृश्य का चित्रांकन होता है। कथा में इस दृश्य के पूरे हो जाने पर वह दूसरे गोल दण्ड पर लपेट दिया जाता है। दर्शकों के सम्मुख दूसरा दृश्य आ जाता है। इसका कथानक वायाङ् गेडोग् के सदृश रहता है। इस प्रकार के वायाङ् बॅबॅर् का अब प्रचलन नहीं रहा। जावा के अनुसार वायाङ् बॅबॅर् भी वायाङ् का एक प्रकार है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि वायाङ् में कथानक का प्रथम महत्त्व है, प्रदर्शन का ढंग गौण है। स्वयं शब्द "वायाङ्" छाया अथवा छायानाटक की भावना को प्रकट नहीं करता। वायाङ् का अर्थ है—नाटक के पात्रस्वरूप चपटी अथवा गोल पुतलियाँ।

वायाङ् के उद्भव के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं हैं। वायाङ् की प्राचीनता अथवा इतिहास का ज्ञान कविग्रन्थों तथा शिलालेखों से प्राप्त तत्सम्बन्धी सामग्री पर निर्भर है। कवि भाषा के अर्जुन-विवाह नामक ग्रन्थ के ५९ पद, वृत्तसंचय के ९३ वें पद, भारत युद्ध के ६६४ वें पद, तन्तुपडलरन् तथा रामायण, ब्रह्माण्ड पुराण, सुमनसान्तक, राम विजय आदि ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर वायाङ् का उल्लेख है। बालि में १०५८ ईस्वी का उल्लेख प्राचीनतम था किन्तु कुछ वर्ष पूर्व ही द्वीपान्तर में उपलब्ध राजा बलितुङ् के ८९८ के शिलालेख में वायाङ् का उल्लेख अब तक प्राप्त अथवा अन्वेषित प्रमाणों में प्राचीनतम कहा जा सकता है। इस शिलालेख की खोज से पूर्व तक यह मत था कि ११वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में केदिरी की राज्य-सभा में वायाङ् खेला जाता था जिसमें चर्मनिर्मित पुतलियों द्वारा वस्त्रपट पर छाया-चित्र होते हैं। तत्कालीन कवियों के इसके सम्बन्ध में यत्र तत्र निर्देशों से इसकी जनप्रियता स्पष्ट ही है। १२ वीं शताब्दी में वाद्यों की सुमधुर ध्वनि से मिलकर ये और भी अधिक मनोरंजक बन गए। द्वीपान्तर पर कार्य करने वाले डच् विद्वान Brandes के अनुसार यह ७०० शकवर्ष जितना प्राचीन है।

कुछ विद्वानों का मत है कि वायाङ् के छायानाटकों का मूल भारत से गया है। अन्य विद्वान् जो इसे द्वीपान्तर में उद्भूत द्वीपान्तर की विशेषता मानते हैं, ये तर्क देते हैं—

(१) वायाङ् में प्रयुक्त सब शब्द द्वीपान्तर की भाषाओं के अपने शब्द हैं।
(२) हिन्दुओं के यहां कभी छायानाटक नहीं रहे।

(३) वायाङ् मूलत: देवालयों में भगवान् के सम्मुख उच्च भावनाओं को अभिव्यक्त करने वाले नाटक हैं जो आज शनैः शनैः लोक-मनोरंजन का साधन बनने पर भी धार्मिक प्रभाव से ओतप्रोत हैं।

वायाङ् सम्बन्धी सब शब्द तद्देशीय होने पर भी यह प्रमाणित नहीं करते कि वायाङ् का जन्मस्थान द्वीपान्तर ही है। द्वीपान्तरवासी आज भी अन्य देशों से आयात वस्तुओं को अपनी भाषा के नाम देना अधिक उचित समझते हैं। उनकी यह सामान्य प्रवृत्ति भी वायाङ् के सब द्वीपान्तरीय शब्दों की युक्ति का समाधान हो सकती है।

भारत में छायानाटकों के प्रचलन के विषय में ये उद्धरण उल्लेखनीय हैं— संस्कृत में लिखे गए महानाटक का मूल उद्देश्य छायानाटक से ही है। जर्मन विद्वान् प्रो० विंटर्निट्स ने अपनी पुस्तक मशिख्ते डेर इंडिशन लिटेराटूर के तीसरे भाग में पृ०२४२-४५ में जावा के वायाङ् तथा महानाटक के निकट सम्बन्ध का दिग्दर्शन कराया है। महानाटक की निश्चित तिथि तो नहीं बताई जा सकती पर क्योंकि आनन्दवर्धन ने इस का उल्लेख किया है अत: इस का ८५० ई० से पूर्व का होना निश्चित है। १३वीं शताब्दी के सुभट विरचित दूतांगद में स्पष्ट शब्दों में उसके छायानाटक होने का उल्लेख है। १५वीं शताब्दी के बहुत से छायानाटक मिलते हैं। यथा-पाण्डवाभ्युदय, रामाभ्युदय, व्यासश्रीदेव का सुभद्रापरिणय इत्यादि। विद्वान् प्रो० पिशल के अनुसार महाभारत और बृहत्संहिता में भी इसका निर्देश है। एक अन्य जर्मन विद्वान् प्रो० स्टेन कोनो ने अपनी पुस्तक डास् इंडिशे ड्रामा में छायानाटकों का समय इससे भी पूर्व माना है। भारतीय कला पर प्रसिद्ध लेखक डा० कुमारस्वामी ने १२वीं शताब्दी में दक्षिण-भारत तथा लंका में चर्मनिर्मित पुतलियों द्वारा छाया-नाटकों का वर्णन किया है। मालाबार में आज भी प्रचलित पावक्कुट्टु नाम से प्रसिद्ध छायानाटकों में चमड़े अथवा हल्की लकड़ी की बनी पुतलियों के अभिनेता और अभिनेत्रियां वाद्य और संगीत के साथ मन्दिरों और वर्ष के विभिन्न पर्वसमयों पर अभिनीत नाटक जनता के मनोरंजन और शिक्षा के सुन्दर साधन हैं।

वायाङ् की धर्मपरता भी उसके भारतीय होने का प्रमाण है। भारत में नाटक और कला का उद्भव धर्म के प्रति हुआ। इतना ही नहीं द्वीपान्तर में केवल जावा और बालि पूर्णतया भारतीय हैं। जावा में हिन्दू धर्म से पूर्व वायाङ् के अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं मिलता। वायाङ् पूर्व की कथावस्तु के मूलस्रोत रामायण और

महाभारत रहे हैं। यह भी भारतीय परम्परा के अनुकूल ही है। भारत के छायानाटक भी इन्ही दो काव्योंसे मुख्यतया अनुप्राणित हैं। इस प्रकार जावा के वायाङ् का मूल भारत माना जा सकता है।

वायाङ् के **नाट्याभिनय** के लिए प्रथम वस्तु श्वेत वस्त्रपट है। इस तने हुए वस्त्रपट पर पीछे की ओर से सुन्दर रंगों में रंगी पुतलियों की रंगीन छाया पट पर डाली जाती है। रात्रि के समय दीपक के प्रकाश में रंग और भी उभरते हैं। पट के सम्मुख श्रोतागण एवं दर्शक बैठते हैं। सूत्रधार पट के पीछे दीपक के नीचे बैठकर पुतलियों के अभिनय का नियन्त्रण करता है। सूत्रधार शब्द की उपयुक्तता इन्हीं छायानाटकों से मानी जा सकती है। चर्मपुतलियों से बंधे सूत्रों को धारण करने वाला और समयानुसार उनका योग्य नियंत्रक सूत्रधार जावा में डलङ् कहलाता है। इन महिषचर्मनिर्मित पात्रों का वाणीविलास डलङ् द्वारा होता है। यह डलङ् कथा और प्रसंग को स्पष्ट करता जाता है। इन चर्मपुतलियों के इतने सुन्दर और सहज अभिनय का कारण उनके शरीरांगों के ढीले-ढाले रहने में निहित है। इनकी भुजाओं, और आवश्यकतानुसार अन्य अंगों के पीछे पतली-पतली लकड़ियां लगी रहती हैं। इन्हीं लकड़ियों की सहायता से डलङ् इनकी गतिविधि का सजीव कर्तृत्व और नियत्रण करने में इतना सफल होता है। डलङ् ही सम्पूर्ण नाटक में अपने शब्दों द्वारा रोचकता, सजीवता और प्राण डाल देता है। प्रत्येक गति और अभिनय किसी विशेष अर्थ के द्योतक हैं। जिनका डलङ् यत्र तत्र, सर्वत्र स्पष्टीकरण करता जाता है। वायाङ् के साथ-साथ चलने वाला वाद्यसंगीत गामेलन् भी कथा के अनुकूल लय का सहगामी बन वातावरण को कर्णमधुर बना देता है। युद्ध के दृश्य में युद्ध की भयंकर मारकूट और भयानक ध्वनि के लिए धातु की थालियों का भयावह शब्द रोमांच उत्पन्न कर देता है।

वायाङ् में नाटक के आरम्भ करने से पूर्व मंगलार्थ पूजा और धूप जलाई जाती है जिससे वह स्थान भूतों आदि के प्रभाव से मुक्त एवं शुद्ध हो जाए। डलङ् के सम्मुख दो कदलीवृक्ष रहते हैं जिनमें वह पुतलियों की पतली-पतली लकड़ियां गाड़ कर रखता है। (भारत में भी कदलीवृक्ष पवित्र माने जाते हैं। विवाह-वेदी-मण्डप के लिए कदली-स्तम्भों का प्रयोग होता है)।

वायाङ् में पुरुष द्रष्टा तो कठपुतलियों के वास्तविक अभिनय और पट पर पड़ रही उनकी छाया को देखते हैं। यही कारण है कि वायाङ् का पट बराण्डे और महाकोष्ठों के बीच रखा जाता है। स्त्रियां तथा शूद्र केवल पट पर पड़ रही छाया

को उल्टी ओर से देखते हैं जिससे कभी कभी कथानक अस्पष्ट हो जाता है। परम्परानुसार दक्षिणपार्श्व सत् का द्योतक है और वामपार्श्व असत् का। एतदनुकूल धर्मपक्ष के पात्र दक्षिणपार्श्व में रहते हैं और अधर्म पक्ष के पात्र यथा कौरव अथवा रावण वामपार्श्वविलम्बी होते हैं। पट के वामपार्श्व में बैठे दर्शकों के लिए इनका व्यतिक्रम हो जाता है। गोधूलि के पश्चात् जब भगवान् सूर्य अस्ताचल की ओर चले जाते हैं, वायाङ् आरम्भ होता है। प्रारम्भ में कुछ समय के लिए गामेलन् का वाद्यसंगीत वातावरण को गम्भीर, सरस और अनुकूल बना देता है। अभिनय से पूर्व डलङ् परम्परा-प्राप्त राजप्रासाद एवं राजकुमारों का विस्तृत वर्णन करता है। रात्रि के लगभग ९ बजे वास्तविक कथा एवं नाटक का श्रीगणेश होता है। प्रायशः छाया-नाटकों को तीन अंकों में विभाजित किया जा सकता है। रात्रि नौ बजे से लेकर अर्धरात्रि तक चलने वाला प्रथमांक भूमिकास्वरूप है। अर्धरात्रि से तीन बजे तक चलने वाला द्वितीय मध्य भाग सदसत् का संघर्षकाल है। और तीन बजे से प्रातः ६ बजे तक अभिनीत अन्तिम अंक उपसंहार अथवा सत्यमेव जयते को प्रतिबिम्बित करता है।

वायाङ् पूर्व में प्रयुक्त विविध प्रकार की आदर्शोन्मुख घटनाओं और कथाओं का हम निम्न वर्गीकरण कर सकते हैं—

१) देवी देवताओं, गन्धर्व, किन्नरों आदि की कथाएं।
२) रामायण से उद्धृत अथवा रामायण की सामग्री पर आधारित कथाएं।
३) महाभारत अर्थात् 'अष्टादशपर्व' की कथाएं।

महाभारत की कथाएं अधिक लोकप्रिय और नाटकोपयुक्त हैं। महाभारत द्वीपान्तरवासियों का प्रथित एवं लोकप्रिय काव्य है। प्रत्येक व्यक्ति महाभारत की कथाओं की पृष्ठभूमि को अच्छी प्रकार से जानता है। सत्पात्रों की कठिनाइयों और अधर्मी पात्रों की कट्टरता, दृढ़ता और अन्त में पराजय को भी वह अच्छी तरह से समझता है। अतः प्रत्येक पात्र का प्रत्येक सार्थ अभिनय उसमें रस उत्पन्न करने में सक्षम है। प्रत्येक पात्र की वेशभूषा, उसका रंग, उसके अलंकार, उसकी विशेष भूमिका उसके भीतर के गुणों का प्रतीक है। पात्रों की स्थिति भी उनके आचरणानुकूल रहती है। महाभारत की इन कथाओं की द्वीपान्तरवासी किस प्रकार व्याख्या करते हैं—इस पर स्थूल दृष्टिपात करते हुए पात्रों की विशेषताओं का संक्षिप्त उल्लेख अनुचित न होगा।

वायाङ् का रंगस्थल हस्तिनापुर विख्यात राजधानी है। जिसका द्वीपान्तर का उच्चारण 'अस्तिनापुर' अथवा 'हस्तिना' है। बहुत समय पूर्व हस्तिनापुर के

राजप्रासाद में दो राजकुंवारों ने जन्म लिया। विधि की विडम्बना और दुर्भाग्यवश राजपद का अधिकारी ज्येष्ठपुत्र धृतराष्ट्र (देस्तरत) जन्मान्ध हुए। अन्धत्व के कारण ज्येष्ठ पुत्र राज्य करने में असमर्थ थे। अतः छोटा भाई पाण्डु राजा बना। धृतराष्ट्र ने सौ पुत्रों को जन्म दिया। इनमें सुयोधन सबसे बड़ा था। वायाङ् के वामपक्ष का यह सब से प्रमुख अभिनेता है। ये सौ पुत्र कौरव (कुरव) कहलाए। राजा पाण्डु के पांच पुत्र हुए। ये गुणी और श्रेष्ठस्वभाव के थे। वायाङ् के ये ही मुख्य अभिनेता हैं क्योंकि ये आदर्श और सत् का प्रतिनिधित्व करते हैं। पाण्डु की मृत्यूपरांत वास्तविक राजपदाधिकारी सिंहासनारूढ़ हुआ पर जिनके पिता ने वस्तुतः राज्य किया था वे भी स्वयं को आधे राज्य के अधिकारी समझते थे। बस यहीं कथा के बीज का आरोपण हो जाता है। अब संघर्ष और साहस, धैर्य, बुद्धि और पराक्रम का समय है। यह संघर्ष भाई-भाई में युद्ध का स्वरूप बन जाता है। जावा में खेले जाने वाले वायाङों में युद्ध का दृश्य नहीं दिखाया जाता क्योंकि भाइयों का अपने ही चचेरे भाइयों से युद्ध धर्मयुद्ध होते हुए भी कुछ अधिक अपेक्षित नहीं है। इसके विपरीत योग्य समय की प्रतीक्षा में पाण्डव इन्द्रप्रस्थ में द्वारवती (अर्थात् द्वारिका) में भटार कृष्ण से मित्रतापूर्वक मन्त्रणा करते हुए दिखाए जाते हैं। कृष्ण की इच्छा होते हुए भी मित्रतापूर्वक समाधान नहीं हो पाता। 'भरतयुद्ध' अवश्यम्भावी है। 'भरतयुद्ध' में पाण्डवों को अनेक आपत्तियों और कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है पर अन्त उनकी विजय में होता है। वायाङ् में राजा वृकोदर की प्रचलित मनोरंजनकारी कथा संक्षेप में यहां दी जाती है।

राजा वृकोदर की कथा

जैसा कि प्रत्येक वायाङ् का प्रारम्भ राज्यसभा के दृश्य से होता है जिसमें राजा अपने प्रमुख मन्त्रियों से मन्त्रणा करते हुए दिखाए जाते हैं। राजा कृष्ण द्वारवती के राजप्रासाद में विद्यमान हैं। हस्तिनापुर से हस्तिनापुर के दो राजदूत नकुल और सहदेव उन्हें बुलाने आए हैं। क्योंकि वहां पांडवों पर कठिनाई आ पड़ी है। इतना ही नहीं वृकोदर किसी को बिना कुछ बताए लुप्त हो गए हैं। और अधिक खोज करने पर भी उनका कुछ पता नहीं लग सका है। अतः शेष पाण्डव व्याकुल एवं चिन्तित हैं। भटार कृष्ण, नकुल और सहदेव हस्तिनापुर के लिए प्रस्थान करते हैं। (अब दृश्य परिवर्तन हो जाता है)। हस्तिनापुर की राजसभा में राजा सुयोधन बिराजमान हैं। दुर्गुणों से अभिभूत कुरुपति का चरित्र उसकी आकृति में झलक रहा है। उसकी नाक और गोल-गोल आंखें उसकी रूक्षता को व्यक्त कर

रही हैं। ठोडी और गले पर उगे हुए बाल मुख और हृदय की सौम्यता एवं कुलीनता की विरोधी प्रवृत्तियों का परिचायक हैं। उसकी वेषभूषा स्वतन्त्र शासक राजा की वेषभूषा है। उसने अभी अभी राजसभा में प्रवेश किया है। पण्डित द्रोण, अधिपति कर्ण और कुटिल शकुनि सभासदों में आसीन हैं। प्रायेण सुयोधन का पक्ष लेने वाले द्रोण ब्राह्मण हैं तथा कौरवों और पाण्डवों के गुरु हैं। अधिपति कर्ण यद्यपि राजा पाण्डु के पुत्र हैं तथापि एकधा अर्जुन से हारकर अपमानित होने पर सुयोधन का पक्ष वरण कर चुके हैं। और हस्तिनापुर की राजसभा में प्रतिष्ठित हैं। शकुनि हस्तिनापुर का कुटिल प्रधानमन्त्री है। कौरवों द्वारा किए गए हीन और अधर्म कार्यों में उसका बहुत हाथ रहा है। बहुत सम्भव है यदि राजा सुयोधन को इस प्रधान मन्त्री की कुमन्त्रणा का सहारा न होता तो वह इतने अपयश का भागी न बनता। उसकी बुराई आश्रय के अभाव में आधी रह जाती। इसके विपरीत कह सकते हैं कि यदि शकुनि को इस राजा की इतनी बड़ी शक्ति का सहारा न होता तो उसकी कुटिलता चरमसीमा पर न पहुंच पाती। शकुनि की गर्वभरी गोल-गोल मोटी आंखें उसके चरित्र और स्वभाव के अनुकूल ही हैं। मोटी सी नाक तथा ठोडी और गले पर उगे हुए बाल उसके निम्न चरित्र की ओर संकेत करते हैं। उसके शरीर का उपरिभाग सामान्यरूप से अधिक अनावृत्त रहता है। राजा के सम्मुख भी उसकी भंगिमा में आदर अथवा नम्रता का लेशमात्र भी कहीं दिखाई नहीं देता। राजा सुयोधन उसके कहने पर चलता है। परिणामतः समस्त राजशक्ति एक प्रकार से उसके हाथ में है। जिसका वह दुरुपयोग करता है। उसके दुरुपयोग का ही तो 'भरतयुद्ध' परिणाम है।

हां, तो राजा सुयोधन रात्रि को देखे अपने भयानक स्वप्न को राजसभा में सुना रहे थे कि इतने में हस्तिनापुर के आंगन में बहुत बड़ा घोष सुनाई पड़ा। सब लोग स्तम्भित व्याकुल और किंकर्तव्यमूढ़ हो उठे हैं। इसका कारण पता चला कि एक महाकाय विशाल हाथी पर अतुलित पराक्रमी योद्धा ने अपने असंख्य अनन्त पराक्रमी सैनिकों के साथ सहसा ही धावा बोल दिया है। अभी कौरव सम्भल भी नहीं पाए थे कि बन्दी बना लिए गए। अधिपति कर्ण को भी युद्ध छोड़ना पड़ा और वह बन्दी बना लिए गए। राजा सुयोधन अपनी पत्नियों सहित द्रुतगति से भाग जाना चाहते थे कि उनकी टांग में बाण लगा और वे अचेत हो गए। बिना चेतना में आए ही भृत्य उठा ले गए। और जब कुछ शान्ति हुई तो अनन्तावशेष नामक एक अपरिचित ने आकर घोषणा की कि सारे जंगल उसके अधीन रक्षा में हैं। वहां रहने वाले को कोई क्षति नहीं पहुंचाई जानी चाहिए।

इसके पश्चात् का दृश्य देवी हिडिम्बी के राजप्रासाद का है। देवी हिडिम्बी पुत्र घटोत्कच को भीम का पता लगाने के लिए सुसज्जित कर भेजती है। घटोत्कच वायु मार्ग से अपने पिता वृकोदर अर्थात् भीम की खोज में निकल पड़ते हैं।

इसी समय डलङ् दर्शकों का ध्यान एक आश्रम की ओर आकर्षित करता है। जहां भगवान् व्यास ने संन्यास ले रखा है। रदेन् अभिमन्यु चार सहायकों के साथ सुशांत आश्रम में प्रवेश करते हैं। पिता अर्जुन ने अभिमन्यु को सर्वज्ञ ऋषि के पास वृकोदर का पता लगाने के लिए भेजा है। ये ऋषि अभिमन्यु को बताते हैं कि वृकोदर के लुप्त हो जाने के विषय में चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। अपने ध्येय अर्थात् कौरवों से आधा राज्य प्राप्त करने के हेतु कुछ समय के लिए लुप्त हुए हैं। जिससे भाई भाई में घरेलू युद्ध न हो और न्यायपूर्वक राज्य का विभाजन भी हो जाए। अभी समय नहीं आया है इसलिए अपने उद्देश्य में सफलता नहीं मिली है। राजा भटार कृष्ण से विचार विमर्श करना ही उचित है। अभिमन्यु अभिवादन कर अपने चार विदूषकों सहित लौट पड़ते हैं। हरे-हरे चावलों के खेतों में कृषक इस उत्कृष्ट पात्र अभिमन्यु को श्रद्धापूर्वक नतमस्तक हो नमस्कार करते दिखाई देते हैं।

वायाङ् का प्रथम अंक समाप्त हो चुका है। रात्रि के बारह बज रहे हैं। कथा के प्रवाह में मोड़ आ जाता है। संघर्ष का प्रारम्भ प्रायः अर्जुन अथवा उसके पुत्र अभिमन्यु के साहसपूर्ण कार्यों से होता है। अभिमन्यु अथवा अर्जुन किसी अनपेक्षित दुविधा अथवा कठिनाई में फंस जाते हैं। सेमर आदि विदूषक अपने हास्याभिनयों से उन्हें प्रसन्न करने की चेष्टा करते हैं। कभी-कभी योग्य मन्त्रणा देकर स्वामी को चिन्तामुक्त करने में प्रयासशील हैं। उस समय वातावरण भी गम्भीर और क्षुब्ध हो उठता है। यह अवस्था जावी में गरगर कहलाती है। हमारी कथा में अभिमन्यु अपने विदूषकों के साथ जंगल की सीमा पर पहुंच जाते हैं। यही वह जंगल है जिसमें अनन्तावशेष ने हस्तिनापुर की विजय के समय अपने अधीन राक्षसों का पहरा बिठा रखा है। अभिमन्यु को विश्वास नहीं होता, वे बिना अनुमति जंगल में प्रवेश करना चाहते हैं। इस पर रक्षक राक्षसों से युद्ध होता है। वे संख्या में बढ़ते ही चले जाते हैं। अभिमन्यु अकेला पड़ जाता है। इसी समय आकाशमार्ग से घटोत्कच उड़ते-उड़ते पहुंच जाते हैं। और इस असमपक्षी युद्ध को देखकर अपने चचेरे भाई अभिमन्यु की रक्षा हेतु शत्रु राक्षसों पर टूट पड़ते हैं। युद्ध समाप्त हो जाता है। किन्तु अभिमन्यु इस सहायता से अप्रसन्न हो उठते हैं। अपमान का

अनुभव कर वह घटोत्कच पर बिना पूछे युद्ध में कूद पड़ने का आरोप लगाते हैं। वह उसकी सहायता के बिना भी युद्ध में विजयी हो सकता था। घटोत्कच अपनी भूल जान अभिमन्यु से क्षमायाचना करते हैं। परन्तु अभिमन्यु और अधिक क्रुद्ध हो द्वन्द्व-युद्ध का आह्वान करता है। घटोत्कच के निषेध करने पर वह उस पर वार करता है। यह देख विदूषक निश्चय नहीं कर पाते कि क्या करें और हस्तिनापुर इस गृह-युद्ध का समाचार देने दौड़े-दौड़े जाते हैं।

अब इन्द्रप्रस्थ का दृश्य दर्शकों के सम्मुख आता है। नकुल और सहदेव सहित श्रीकृष्ण का राजा युधिष्ठिर स्वागत करते हैं। अर्जुन भी वहीं उपस्थित है। तत्काल ही वृकोदर के लुप्त हो जाने के विषय में विचार विनिमय प्रारम्भ हो जाता है। भटार कृष्ण वृकोदर के सम्बन्ध में किसी प्रकार की चिन्ता न करने की मन्त्रणा देते हैं। अब हस्तिनापुर की कठिनाइयों और समस्याओं पर विचार होने लगता है। और भीम की बात वहीं की वहीं रह जाती है। यही निश्चय होता है कि स्वयं हस्तिनापुर जाकर वहां सब घटनाओं का भलीभांति निरीक्षण किया जाए और तत्पश्चात् किसी परिणाम पर पहुंचना ही संगत और योग्य है। इस निश्चय पर सब की सहमति होने के कारण सब हस्तिनापुर की ओर प्रस्थान करते हैं। मार्ग में वे उस जंगल में आते हैं जहां युद्ध से भागे सुयोधन और उसका परिवार एव परिजन ठहरे हुए हैं। बुरी प्रकार से आहत सुयोधन श्रीकृष्ण से प्रार्थना करते हैं कि यदि उसे ठीक कर पुन: राज्यप्रतिष्ठित कर दें तो वह पाण्डवों को आधा राज्य दे देगा। और यदि वह अपनी प्रतिज्ञा को पूरा न करे तो उसके कुल का (भरत युद्ध में) नाश हो जाए। इसी समय हल्का-सा भूचाल और वायु का झोंका आता है और राजप्रतिज्ञा स्वीकृत हो जाती है। रदेन् अर्जुन अपनी विशेष शक्ति के द्वारा सुयोधन को पुन: स्वस्थ कर देते हैं। सारे परिवार में प्रसन्नता छा जाती है। इसी समय अभिमन्यु के अनुगामी चारों विदूषक जाकर अभिमन्यु और घटोत्कच के परस्पर युद्ध की सूचना देते हैं। सब लोग चल पड़ते हैं। और शीघ्र ही दोनों योद्धाओं को ढूंढने में सफल हो जाते हैं। भटार कृष्ण के सम्मुख उन्हें सारी स्थिति रखनी पड़ती है। तब भटार कृष्ण उन्हें आदेश देते हैं कि हस्तिनापुर के शत्रु से जाकर युद्ध करो। बिना मांगे एक दूसरे की सहायता नहीं करना और जहां तक हो सके पृथक् पृथक् जाकर ही युद्ध करो। सब हस्तिनापुर की ओर चल पडते हैं। यहां दूसरा अंक समाप्त हो जाता है। अब रात्रि के तीन बज रहे हैं। उपसंहार अभी शेष है। सम्पूर्ण नाटक का प्रवाह असत् पर सत् की विजय की ओर है। सब घटनाएं क्रमश: अपने ध्येय पर शनैः शनैः पहुंच रही हैं।

दर्शक अब राक्षसों की नगरी गिलिङ्वेसी को देखते हैं जहां राजा तुगुवाशेष सम्माननीय अभ्यागतों का स्वागत कर रहा है। ये सब राजपुत्र अनन्तावशेष के हस्तिनापुर जीतकर उसे वहां का राज्य सौंपने की बात-चीत कर रहे हैं। इसी विजय से गौरवान्वित होने के लिए राजा स्वयं अन्त में सेनासहित पहुंचकर विजय प्राप्त करेंगे। इसी बीच पाण्डव और भटार कृष्ण हस्तिनापुर पहुंच जाते हैं। अर्जुन अदृश्य होकर अधिपति कर्ण और अन्य कौरवों को मुक्त कर उन्हें सुयोधन के पास ले जाने की प्रार्थना करते हैं। राजपुत्र अनन्तावशेष शत्रुओं की सेनाओं का आगमन सुनकर स्वयं को युद्ध के लिए अस्त्रशस्त्रों से सुसज्जित करता है। परन्तु अब तक रदेन् घटोत्कच आकाश में छा जाता है। महाकाय हाथी यह देखकर चिघाड़ता है। जिसकी महा-भीषण गर्जना को सुनकर घटोत्कच पृथ्वी पर गिर पड़ता है। हाथी उसे अपने पैरों से रौंदने का प्रयत्न करता है। परन्तु देवों के प्रभाव से घटोत्कच को कोई चोट नहीं लगती। वायु के हल्के शीतल झोंकों से वह पुनः शक्ति सम्पन्न हो उठता है। अब तक पाण्डव युद्ध क्षेत्र मे पहुंच जाते हैं। रदेन् अभिमन्यु रदेन् अनन्तावशेष से भिड़े हैं पर विजय नहीं पा रहे हैं। घटोत्कच दूर से यह अभाग्य दृश्य देख रहा है। सहायता करने को उत्सुक है पर बिना अनुमति लिए साहस नहीं पड़ रहा है। तथापि वह कुछ समीप आ जाता है। अभिमन्यु उसकी सहायता की आवश्यकता और अनिवार्यता का अनुभव करता है। अपने पूर्वकृत्य के कारण लज्जित है पर अन्त में विवश होकर सहायता मांग ही लेता है। रदेन् अनन्तावशेष और घटोत्कच में घमासान युद्ध होता है। राजा तुगुवाशेष अब तक स्वयं वहां पहुंच जाते हैं। और अपने पुत्र अनन्तावशेष की सहायता करना चाहते है। पर भगवान् कपिवर उन्हें रोक लेते हैं। और आत्म-समर्पण करने की अनुमति देते हैं। तुगुवाशेष नहीं मानते और घटोत्कच पर आक्रमण कर देते हैं। कपिवर इस अवस्था में कोई अन्य उपाय न देख अदृश्य बन घटोत्कच के कान में राजा को तीन बार प्रणाम कर राजा तुगुवाशेष से युद्ध करने की मन्त्रणा देते हैं। यह मन्त्रणा कहां से आई यह बिना जाने ही घटोत्कच इसे देववाक्य समझ पालन करते हैं। कपिवर पिता और पुत्र का यह युद्ध देखकर प्रसन्न होते हैं। और कृष्ण भटार से रहस्य का उद्घाटन करते हैं कि तुगुवाशेष कोई और नहीं वृकोदर ही हैं जिन्होंने इस रूप में कौरवों से आधा राज्य लेने के लिए समस्त उपक्रम रचा है। बिना इसके महान् भावी युद्ध नहीं रोका जा सकता था। भगवान् कृष्ण की दैविक शक्ति से हिडिम्बी वहां आ जाती है और अपने पुत्र को अपने पीछे आने को कहती है। राजा तुगुवाशेष उसे आता देखकर सहसा लुप्त हो जाते हैं और अपना

सत्य रूप धारण करने पर विवश हो पुनः वृकोदर बन जाते हैं। तत्क्षण सब राक्षस लुप्त हो वृकोदर के शरीर में समा जाते हैं।

सब पाण्डव इकट्ठे होते हैं तो भटार कृष्ण वृकोदर को बताते हैं कि गृहयुद्ध अवश्यंभावी है। वह किसी प्रकार भी नहीं टाला जा सकता। अस्तु, इधर सुयोधन यह जानकर कि यह शत्रु नहीं पाण्डव वृकोदर था अपनी प्रतिज्ञा तोड़ देता है और कहता है कि इन परिस्थितियों में आधा राज्य देने की उसने प्रतिज्ञा नहीं की। इस पर वृकोदर के क्रोध की सीमा नहीं रहती। परिणामतः सुयोधन और वृकोदर में युद्ध छिड़ जाता है। बस, यहीं भरत युद्ध का सूत्रपात हुआ। अधिपति कर्ण अर्जुन से युद्ध करने लगते हैं। अर्जुन वायवास्त्र से कर्ण को दूर फैंक देते हैं। वृकोदर के आक्रमण से कौरव सम्भ्रान्त और विचलित हो जाते हैं। और सुयोधन इधर उधर आश्रय खोजने लगता है। युद्ध में विजयी पाण्डव उत्सव मनाते हैं। सत्य और धर्म के सम्मुख असत्य और अधर्म पराजित हो दृश्य से दूर हो जाते हैं। सत्यमेव जयते के आदर्श तक पहुंचकर प्रातः ६ बजे के लगभग वायाङ् समाप्त हो जाता है।

महाभारत की इस कथा में द्वीपान्तरवासियों की नैतिकता और शान्तिप्रियता की ओर संकेत करने वाली अनन्तावशेष की कथा भारत के लिए रोचक है। प्रत्येक देश केवल लेता ही नहीं उसमें कुछ और भी मिलाता चला जाता है। मानव प्रगतिशील है। साहित्य में, कला में परिवृद्धि करने, रोचकता और नवीनता लाने में वह सतत प्रयत्नशील है और रहेगा।

पंच पाण्डव एवं कृष्ण

पंच पाण्डव वायाङ् के मुख्य पात्र हैं। दर्शकों की दृष्टि इनकी गतिविधि पर केन्द्रित रहती है। अन्य पात्र सहायक अथवा पूरक पात्र हैं। भगवान् श्रीकृष्ण का विशेष स्थान है। उनसा योगीश्वर मन्त्री एवं मित्र अन्यत्र दुर्लभ है।

इन पंच पाण्डवों में कुन्तदेव ज्येष्ठ हैं। ये धर्मपुत्र भी कहे जाते हैं। अपनी सत्यनिष्ठा और गम्भीरता एवं विचार सौष्ठव के लिए विख्यात हैं। आपका स्वभाव सरल और सौख्यपूर्ण है। इनके वस्त्र और परिधान साधारण हैं। भुजाओं पर अलंकारों की चमचमाहट नहीं है। गला भी आभूषणों के बन्धन से मुक्त है। माथे की सीध में नाक की सिधाई उनके गौरव और उच्चता का प्रतीक है। सिर के

घुंघराले बाल उनकी विचारमयी प्रकृति के द्योतक हैं। कुन्तदेव सामान्यजन से अतीत हैं। असीम और अगाध श्रद्धा से जनता उनके दर्शन कर सौभाग्यान्वित है।

भीम और अर्जुन का अपना अपना विशिष्ट चरित्र है। भीम जो वृकोदर (कविवेरकुदर) नाम से अधिक प्रचलित है शरीर से हृष्ट-पुष्ट है। उनकी नाक की बनावट से पता चलता है कि उनमें आभ्यन्तर गुणों का वह परिपाक और उत्कर्ष नहीं है। उनके शरीर से सहज ही उनकी शक्ति का उद्भास होता है। वायु का पुत्र होने के कारण वे आंधी के समान हैं जिसके मार्ग में बाधाएं और कठिनाइयां ठहर नहीं सकतीं। परन्तु भीम सत्-पक्ष का पात्र है। वह अपनी अनन्त आत्मशक्ति का प्रयोग सदा असत् और अधर्म के विरुद्ध करता है। एक बार राक्षस हिडिम्ब को जीतकर उसकी बहन हिडिम्बी से विवाह कर लिया। हिडिम्बी का राजप्रासाद अगम्य पर्वत शिखर पर था जहां केवल उड़कर ही पहुंचना सम्भव था। भीम के इससे घटोत्कच नामक पुत्र हुआ। इसमें माता से जहां शक्ति और उड़ने की क्षमता आई वहां पिता भीम के अच्छे गुणों ने सत्पक्ष का पक्षधर बना दिया। अपने पिता भीम के समान ही घटोत्कच भी बहुत लोकप्रिय पात्र है। सदा सहायता करने को तत्पर घटोत्कच पितृवत् ही क्षण भर को भी अन्याय नहीं सह सकता। भटार वायु के समान ही भीम अपने लम्बे नख से जोकि आत्मसंयम और विचारपरता का प्रतीक है झट से पहचान लिए जाते हैं। इस अंगुष्ठ-नख का प्रयोग भीम कदाचित् ही करते हैं। यथा-समुद्र की गहराई में जीवन देने वाले पानी की खोज करते हुए जलसर्प के आक्रमण से रक्षा के हेतु इसका प्रयोग किया था। इस अवसर पर भीम को भगवान् देवरुचि के दर्शन हुए। इस अनुग्रह के स्मृतिस्वरूप भीम श्वेत, लाल, पीले, काले चौकोरों वाला अधोवस्त्र धारण किए रहते हैं। १७वीं और १८वीं शताब्दी की परम्परानुसार लाल, पीले और काले रंग उसकी दुर्बलता और वासनाओं के प्रतीक हैं जिन पर इसे विजय पानी है। श्वेत रंग पवित्रता और श्रेष्ठता का सूचक है जिसमें सब अन्य रंग मिल जाते हैं। भटार भीम का हृष्टपुष्ट शरीर अलंकारों की शोभा से सुशोभित एवं विभूषित है।

भटार अर्जुन की वेषभूषा और मुखाकृति सर्वथा भिन्न है। 'रदेन् पमदे' अर्थात् मंझले पाण्डव अर्जुन सज्जनता की मूर्ति हैं। सुरुचि और सौम्यता उनके विशेष गुण हैं। उनका रूप सौंदर्य का आदर्श है। उनके विशाल नयन उनके उत्तम कुल के द्योतक हैं। हल्के-से झुके हुए सिर से उनकी उच्चता प्रकट होती है। आभूषणों से शरीर-शोभा में वृद्धि हो रही है। परन्तु अर्जुन भुजाओं में कोई आभूषण नहीं

पहनते केवल दोनों हाथों में एक एक अंगूठी शोभायमान है। उनका अमित सौंदर्य ही स्वयं आभूषण है। द्वीपांतर में अर्जुन की अनेक प्रेमकथाएं प्रचलित हैं। अर्जुन के अनेक पुत्र हैं। बच्चों को कहानियां सुनाई जाती हैं कि उन के दादा एक तपस्वी से मिले थे, रदेन् पमदे अर्थात् अर्जुन, नगर का वीर योद्धा, जिसका पिता था। अर्जुन के अनेक पुत्रों में से लोकप्रिय पुत्र अभिमन्यु है। रूपाकृति में पितृतुल्य वीर धनुर्योद्धा अभिमन्यु जब कभी साहसभरी वीर-यात्राओं पर जाते हैं तो चार सहायक साथ चलते हैं। बहुत बड़े पेट वाला छोटा-सा 'सेमर्' दुबला, और कुछ लम्बा 'गरेङ्' तथा बहुत लम्बा, लम्बी-लम्बी दुबली भुजाओं वाला लम्बी नाक और लम्बी चोटी तथा मूंछो वाला 'पेत्रुक्' और सेमर् से मिलता-जुलता पर बिना टोपी के 'बगोङ्' संस्कृत नाटकों के विदूषकों के समान ही हंसी और विविध विचित्र अभिनयों और बातों द्वारा अपने स्वामी का मनोरंजन करने वाले पात्र हैं। दुविधा के समय योग्य मन्त्रणा देने से भी ये नहीं चूकते। अपनी विचित्र वेषभूषा और रूपाकृति में इन चारों विदूषकों का अग्रणी सेमर् ऋषि के समान ही सन्मार्ग का प्रदर्शक है।

जुड़वां भाई नकुल और सहदेव चौथे तथा पांचवें पाण्डव हैं। रूपाकृति का सादृश्य होने के कारण इन्हें पृथक्-पृथक् पहचानना वायाङ्, दर्शकों के लिए इतना सरल नहीं होता। प्रायः आवश्यक और महत्त्वपूर्ण संदेशों का वहन ये दोनों पाण्डव कुशलता पूर्वक करते दिखाई देते हैं।

भटार कृष्ण अपनी विशेष साजसज्जा में एक साथ सहसा दर्शक को आकर्षित कर लेते हैं। राजमुकुटधारी श्रीकृष्ण के पीछे पंख लगे रहते हैं। पंख उनके देवत्व का सूचक हैं। उनकी सीधी नाक जहां उनकी श्रेष्ठता की प्रतीक है वहां उनकी उच्च ग्रीवा आत्मगौरव और आत्मविश्वास की परिचायक है। कठिनाइयों में पाण्डवों के सर्वप्रमुख मित्र एव मन्त्री वे ही हैं। ये प्रमुख पात्र जावा-वासियों के लिये जीवित जागृत पात्र हैं।

चर्मपुतलियों का निर्माण

महाभारत और रामायण की कथाओं और पात्रों से अनुप्राणित वायाङ् का बाह्याडम्बर, वेषभूषा, वर्ण और अलंकार अपनी नवीनता और कलापूर्णता से सहसा दर्शक को आकर्षित कर लेते हैं। चर्मनिर्मित पुतलियों का निर्माण द्वीपान्तर की विशेष कला है। १९२० में कुशल और अनुभवी कलाकार सुकिर् ने चर्म को रूप रंग देकर सप्राण और सार्थक बनाने की कला पर एक पुस्तक जावी भाषा में लिखी। भावी वायाङ् के निर्माताओं के लिये आधार-भूत यह "बलई पुस्तक" जावी की कला

समझने के लिये नितान्त आवश्यक है। इसमें चित्रों द्वारा प्रत्येक बात का स्पष्टीकरण किया गया हैं। जिससे इसका मूल्य द्विगुणित हो जाता है। (इस पुस्तक का प्रकाशन कमिशन फ़ॉर फोक लिटरेचर, जकर्ता ने २४४ संख्या के अन्तर्गत १९२० में किया।)

पुतली के योग्य महिष चर्म लेकर उसे स्वच्छ और चिकना कर अपेक्षित पात्र की बाह्यरूपरेखा का उसपर अंकन कर लिया जाता है। रूपाकृति का स्थूल बह्याङ्कन समाप्त होने पर कलाकार के निपुण सधे हुए हाथ छैनी द्वारा इसे काट लेते हैं। चर्म अब आकारवान् बन कर विशेष नामरूपधारी हो जाता है। और अब शनैः शनैः उसके भीतर की सूक्ष्म रेखाएं खींच ली जाती हैं। यह अवस्था "गैबिङन्" कहलाती है। इनमें भी पहले बाहर की मुख्य मुख्य रेखाएं काटी जाती हैं। और तत्पश्चात् क्रमशः सूक्ष्मता से अपेक्षित जाली और आकार काट लिए जाते हैं। इसकार्य में प्रयुक्त चर्म काटने के अस्त्र विभिन्न १२ प्रकार के होते हैं, विभिन्न अंगों की सजावट में जिनका विविधता से प्रयोग होता है। एक से यदि सीधी रेखा कुशलता पूर्वक खींची जा सकती है तो दूसरा फूलों की गोलाई और छटाई में प्राण भर देता है। पत्तों का बाह्याकार काटने के लिये पृथक् है जिसका काम सूक्ष्मतम होता है। कर्णाभूषण और मुकुट की सजावट विशेष कौशल चाहती है अतः उसके लिये अनेक प्रकार की छेनियां हैं। बालों का घुंघरालापन केवल गोलाई ही तो नहीं है और घुंघराले सिर के बालों तथा दाढ़ी और मूंछों के बालों में भी तो अन्तर है। इस अन्तर को चमड़े में दिखाने के लिये कलाकार विविध यन्त्रों का प्रयोग करता है। चर्म की कटाई पूरी हो जाने पर पुतलियां "पेछहन्" कहलाती हैं। बस, मुख की कटाई अभी शेष है। मुख की भावभंगिमा ही चर्मपुतली की सजीवता की द्योतक है। अब कलाकार बहुत सावधान है। एक छोटी सी रेखामात्र बना और बिगाड़ सकती है। पुतली की अच्छी बनावट का प्रथम द्योतक उसका मुख है। परम्परा प्राप्त विशेषताओं को सुरक्षित रख उनका पालन करके ही कुशल कलाकार कहलाया जा सकता है। उदाहरणार्थ आंखें ले सकते हैं। ये मुख्यतया दो प्रकार की होती हैं। जब कि आँख की पुतली गोल तथा छोटी है अर्थात् पात्र देख रहा है, तो इसका नाम सर्वथा मंटेलेङ् है। दूसरे में आंख की तीन चौथाई गोलरेखा होती है। यह तीन चौथाई गोल सर्वथा नासिका-पुल की सीध में होना चाहिए और पुतली एक विशेष दांत के सर्वथा ऊपर। दूसरी अर्धनिमीलित आंखें हैं। ध्यानावस्थित और नासिकाग्र दृष्टि के चित्रण में बहुत अधिक सावधानी और नियम पालन की आवश्यकता है। संह्य नारद और पं० द्रोण की आँखों की गम्भीर निमीलित मुद्रा "केलिपन्" कहलाती है। इस प्रकार की आंखें श्रेष्ठता, उच्चता एवं कुलीनता को अभिव्यक्त करती हैं। मुख पर सिर का झुका होना निर्भर है। प्रायः

कन्धे सिधाई में रहने चाहिएं। कानों के आभूषण भी विशेष पात्रों के लिए विशेष हैं। भुजाओं के आभूषण एवं झुकाव मुख्यतः तीन प्रकार के होते हैं। राक्षसराज के भुजा–भूषण में मुकुट का सा आकार है जबकि सामान्यतया ये शंखाकार होते हैं। अँगुलियों की मुद्राएं और नख भी ध्यान देने की वस्तु हैं। भीम और भटार वायु का लम्बा, द्वितीया की चन्द्रकला सदृश कुटिल अंगुष्ठनख है। हनुमान भी वायुपुत्र है। उसका अंगूठा भी लम्बे सुन्दर कलात्मक नखवाला है। राजा द्वारा धारण किये जाने वाला मुकुट उनकी "प्रभा का द्योतक है। दूसरे प्रकार के मुकुट, राजकुमारों के मुकुट" तोपिङ् केतु" कहलाते हैं। कर्ण और मत्स्यपति का शिर इसी प्रकार के मुकुटों से सुशोभित रहता है। राजा, राजपुत्र और मन्त्रियों की विविध शिरोभूषाएं हैं। बालों की लम्बाई और उनका प्रकार (घुंघराले अथवा सीधे बालों) के कारण भी उनकी शिरोभूषा में इधर उधर परिवर्तन हो जाते हैं। यदि शिरोभूषा नीचे कम लटकने वाली अर्थात् "लुङसॅन्" हैं तो उनमें बालों का जूड़ा नहीं दिखाई देगा। अधोवस्त्र और साज-सज्जा लगभग एक समान होती है। विशेष परिवर्तन इच्छानुकूल अथवा आवश्यकतानुकूल रंगों आदि के द्वारा कर दिए जाते हैं। यथा भीम के अधोवस्त्र में श्वेत, लाल, पीले और काले रंग के चौकोर रंग दिये जाते हैं। अधोवस्त्र भारतीय धोती का ही प्रकार है। आगे चुन्नटे लटकती रहती हैं। इन चुन्नटों में कलाकार अपनी कला दिखाता है। ये सर्वथा सीधी नहीं होतीं इनमें गोल गोल चुँगटे पड़े रहते हैं। इस धोती में घुटनों से नीचे तक पैर नहीं ढके जाते। प्रायः शरीर के साथ लगा कलात्मक पाजामा सा पहनाया जाता है। योद्धा, राजाओं एवं मन्त्रियों के बाईं ओर कृपाण अथवा तलवार लटकती रहती है। ये भी पात्रों के साथ साथ विशेष एव पृथक् पृथक् होती हैं। प्रत्येक पात्र आंचल धारण किये रहता है। भीम का आंचल साधारण है। इन कलात्मक आंचलों के बहुत से प्रकार हैं। केवल युधिष्ठिर की धोती और आंचल का किनारा सर्वथा साधारण है। स्त्रियों का अधोवस्त्र भी धोती से बहुत कुछ मिलता जुलता है पर वह पुरुषों की अपेक्षा अधिक कलापूर्ण एवं नीचा होता है। नारी की वेषभूषा अधिक कोमलता उपजाती है। जब कि योद्धाओं के उड़ते हुए वस्त्रों में शक्ति और साहस की झलक मिलती है।

पूरी चर्मपुतली रंग लेने के पश्चात् कलाकार अन्त में कर्ण और कर्णाभूषण बनाता है। तत्पश्चात् नासिकाग्र, फिर नासिकाछिद्र, क्रमशः मुख, मूछें, दाढ़ी और और दांत। आखें अभी भी शेष हैं। आंखों में ही जीवन है। पुतली का यह क्रमबद्ध निर्माण हमारे जीवन के चेतनाक्रम को अभिव्यक्त करता है। यह इसका शारीरिक अनुभव है। क्रमशः उसे तीन प्रकार से ज्ञान की प्राप्ति होती है—पहले कान से,

नासिका से, और पर्याप्त समय के पश्चात् मुख से। दृष्टि द्वारा पहचानना अन्तिम वस्तु है क्योंकि यही सबसे बड़ा प्रमाण है। प्रत्यक्ष का दर्शन शास्त्र में महत्वपूर्ण एवं सर्वप्रथम स्थान है।

वायाङ् में ५ प्रमुख रंग हैं—श्वेत, काला, पीला, नीला और लाल। इन्हींके मिश्रण से सब रंग बना लिए जाते हैं। ये मिश्रण निश्चित हैं। यथा—

श्वेत में किंचित् लाल मिलाने से पाटल अर्थात् गुलाबी रंग बन जाता है।

श्वेत में थोड़ा अधिक लाल मिलाने से हल्का लाल रंग बन जाता है।

श्वेत में थोड़ा सा नीला लाल मिलाने से आकाश सा रंग बन जाता है।

श्वेत में थोड़ा सा अधिक नीला लाल मिलाने से हल्का नीला रंग बन जाता है।

श्वेत में थोड़ा सा काला एवं लाल मिलाने से सलेटी रंग बन जाता है।। इसी प्रकार पीला और हल्का नीला मिलाने से हल्का हरा रग, पीला और लाल मिलाने से संतरे का रंग, लाल और नीला मिलाकर जामनी, लाल और काला मिलाकर भूरा रंग बना लिया जाता है। मिश्रण से १६ रंग और बन जाते हैं। रंग हल्के से गाड़ा होता चला जाता है। यह मिश्रण द्वारा सहज सम्भव ही है। स्वादानुकूल शक्कर मिलाने के समान ही जितना चाहिए उतना रंग मिलाकर मनोवांछित रंग बनाया जा सकता है। रंगने से पूर्व आकारवान् चमड़े को पत्थर से घिस कर एकतल कर लिया जाता है। उसके सब तटों का खुरदरापन दूर हो जाता है। चमड़े पर किसी प्रकार का तैलचिन्ह शेष नहीं रहना चाहिए। अन्यथा उस स्थान पर रंग ठीक नहीं चढ़ेगा।

चमड़े को अच्छी प्रकार से घिस लेने के पश्चात् सारी की सारी पुत्तलिका पर श्वेत लेप कर दिया जाता है। इसका बहुत पतला स्तर होता है क्योंकि यह वास्तव में रंग नहीं है, अच्छा रंग चढ़ाने के लिए पृष्ठभूमि है। इसी के ऊपर दूसरे रंग का हल्का और गहरापन यथेष्ठ मात्रा में चढ़ाया जा सकता है। श्वेत लेप के सूख जाने पर तत्काल बनाए काले लेप से रंगा जाता है। सिर, बाल, आंखों के उपान्त, अंचलवस्त्र की बाह्यरेखाएं या कभी कभी मुख का रग यदि वह काला हो तो वह भी रंग दिया जाता है। काला रग करते समय रंगने वालों को ध्यान रहना चाहिए कि चमड़े के कटे हुए तटों के भी अन्दर तक काला रंग लिया जाए। जिससे कालेरग में एकरूपता आ सके अन्यथा अभिनय के समय जब प्रकाश से उनकी छाप पट पर पड़ेगी तो मध्य में श्वेत रंग की आभा से काले रंग में सौन्दर्य एवं गहरापन नहीं

आ सकेगा। काले रंग के पश्चात् अपेक्षित स्थलों पर सोने का पतला पत्रा चढ़ाया जाता है। जैसे आभूषणों में, मुकुट में, अधोवस्त्र के तटों पर, अञ्चल में, आदि आदि। सोने का पत्रा चढ़ाने का कार्य बहुत सावधानी से किया जाता है। पहले गोंद लगाया जाता है और जहां कहीं भी गोंद लगा होता है यह पत्रा चिपक जाता है। एक बार चिपक जाने पर उसे निकालना प्रायः असम्भव होता है। यदि गोंद बहुत गीला हो तो सिलवटें पड़ जाती हैं जिसमें चमक और चर्म पर बने फूलबूटे विकृत हो जाते हैं। अतः गोंद लगाना एक प्रकार से चित्र मे रंग भरना ही है। सूचन रेखाओं में इसका सहज अनुमान लगाया जा सकता है। इतना ही नहीं यदि यह गोंद सूख जाए तो वह सुवर्णपत्रा नहीं चिपकेगा। अतः समय का ध्यान रखना अनिवार्य है। ये सुवर्णपत्रे नगर में बने बनाए मिलते हैं। इनके नीचे एक पृष्ठ लगा रहता है। उस पृष्ठ को निकालने के लिए सुवर्णपत्रा पानी में भिगो दिया जाता है और निश्चित अवधि के पश्चात् बिना सूक्ष्म सुवर्णपत्रे को छुए कलाकार सावधानी से पृष्ठ को पृथक् कर देता है। सुवर्णपत्रे को जहां कहीं भी हाथ लग जाएगा वहीं वह हाथ से चिपक जाएगा। पानी में भिगो कर रखने से सुवर्णपत्र के उड़ने और नष्ट होने का भय नहीं रहता।

काला और सुनहरी रंग कर देने के उपरान्त लाल रग किया जाता है। एक साथ गहरा लाल रंग नहीं कर दिया जाता वरन् श्वेत रेखा से आरम्भ कर क्रमशः रंग, पाटल, लाल, अधिक लाल और गहरा लाल होता जाता है। भूरा रंग मिलाकर शुद्ध लाल और भी गहरा कर लिया जाता है। रंग में सौंदर्य और आकर्षण लाने के लिए आवश्यक है कि श्वेत से प्रारम्भ किया जाए जिससे रंग थोपा हुआ नहीं वरन् क्रमशः उद्भासित लगे। और यदि किसी स्थान पर दो रंग दो भागों में करने हैं तो बीच में श्वेत हल्की सी रेखा रहेगी और उसके दोनों ओर क्रमशः रंग उभरते चले जाएंगे।

लाल के पश्चात् उचित स्थानों पर पीला रंग किया जाना चाहिए। हरे रंग की प्रारम्भिक अवस्था में भी हल्का हरा देने के लिए पीले रंग की आभा चाहिए। केवल हरे के लिए ही नहीं, संतरे रंग के लिए भी पीले की आवश्यकता होती है। पीले के पश्चात् हरा रंग किया जाता है। इसका क्रम इस प्रकार है, पहले पीला, उस पर हल्का हरा और फिर गहरा और फिर क्रमशः अधिक गहरा रग। अब नीले और संतरे रंगों की बारी है। पहली बार में सब हलके रंग किए जाते हैं और फिर दूसरी बार में उनके गहरे रंगों को और भी गहरा कर दिया जाता है। दूसरी बार की रंगाई में सर्व प्रथम हरा रंग क्रमशः अधिक गहरा कर दिया जाता है। इसके पश्चात् लाल आदि।

रंगों में परस्पर भी सामंजस्य होना चाहिए। यदि किसी का शरीरवर्ण कृष्ण है तो दांत और भवें स्वर्णमण्डित तथा माथे के घुंघराले बाल लाल होने चाहिएं। किन्तु यदि पुलती "दगेलन्" वर्ग की है और पात्र मदुरा के प्रधान मन्त्री प्रभव सदृश उच्च पदाधिकारी है तो शरीरवर्ण कृष्ण होते हुए भी भवों, माथे पर लटकने वाले घुंघराले बालों और मूंछों का रंग लाल होगा। "दगेलन्" चर्मपुतलियों का मध्यम परिमाण है। ये पुत्तलिकाएं प्राय: तीन परिमाणों में बनाई जाती हैं। छोटा परिमाण राजकुमारों, क्षत्रियों, उच्चवंशियों और स्त्रियों का होता है। मध्यम परिमाण प्राय: प्रधान मन्त्रियों का और विशाल परिमाण में भूत और "दुगङन्" होते है। दुगङन् महाशक्तिशाली चौड़े पैर पर खड़े होने वाले पात्रों के दांत और भवें और दाड़ी तथा मस्तक के बाल काले बनने चाहिये। प्रभामण्डल का सुवर्णमण्डित होना आवश्यक है। उस की बाह्यरेखा नीले अथवा नारंगी रंग की तथा उसमें बने फूलबूटे लाल और हरे रंग के होने पर प्रभामण्डल का उभार माना जाता है।

वायाङ् में मुखवर्ण का विशेष स्थान है। यह उनका चरित्रांकन करने मे सहायक है। कई पात्रों के तो अनेक रंग होते हैं जो विभिन्न कालोत्थित विशेष विशेष भावों की प्रबलता के परिचायक हैं। परन्तु कई पात्रों का रंग सब अवस्थाओं में स्थिर रहता है। भटार कृष्ण का वर्ण सदा काला ही होगा। दूसरे वर्ण की कभी कोई कल्पना भी नहीं कर सकता। इसका कारण उनकी गम्भीरता और स्थिरता कहा जा सकता है। इसके विपरीत अर्जुन भावों के अभिनय में विभिन्न रंगों में दर्शक के सम्मुख आते हैं। यथा इस लोकप्रिय पात्र अर्जुन का रंग कभी सुवर्णमण्डित तथा कभी काला रहता है। यह पात्र के अस्थिर भावों का द्योतक है। सूत्रधार डलङ् भावानुकूल रंग चुनता है। साहसी कार्यों में सलग्न अर्जुन सुवर्णवर्णी तथा आत्मसंयमी और विचारशील अर्जुन कृष्णवर्ण है।

प्राय: लाल मुख वाले पात्र क्रोधी, असंयमी और निम्नवासनाओं से प्रेरित होते हैं। यथा भूतादि। कृष्णवर्ण शान्त, विचारशील, आत्मसंयमी और जितेन्द्रिय चरित्र को अभिव्यक्त करता है। इस पात्र का आदर्श मानव की निम्न वासनाओं को पारकर आगे बढ़ते जाना है। किन्तु कौरव सुयोधन का, जो कि असत् पक्ष में प्रमुख पात्र है और लोकप्रिय पाण्डवों का शत्रु है सदा नहीं तो प्रायेण मुखवर्ण लाल होना चाहिए था पर इसके विपरीत उसका रग प्राय: काला दिखाया जाता है। सम्भवत: यह द्वीपांतरवासियों की उसके प्रति सहानुभूति है। वे उसे कभी दुर्योधन भी तो नहीं कहते। क्योंकि वह वास्तव में बुरा नहीं था। बुरी मन्त्रणा के कारण कुकृत्य

करता था। दशमुख अर्थात् रावण का मुखवर्ण लाल उसके चरित्र से संगत ही है। नीच पर अतुलित शक्तिशाली दशमुख का जगत् में कोई प्रतिद्वन्दी नहीं है। रामभक्त तथा सदा सहायता करने को तत्पर श्वेतमुखवर्ण वाले हनुमान के रंगमच पर आते ही दर्शक सुख, शान्ति और मुग्धता का अनुभव करता है। इसके सम्मुख दशमुख रावण की शक्ति का तेज भी फीका पड़ जाता है।

इस प्रकार दर्शक वायाङ् के प्रत्येक दृश्य अभिनय का रसास्वादन करते करते जीवन और आदर्श की ओर बढ़ती हुई घटनाओं की गतिविधि का अवलोकन भी साथ साथ करता जाता है। ये आदर्शोन्मुख नाटक जहां कला के उत्कर्ष का प्रतीक है वहां जन-जीवन में प्रेरणा भरने वाले स्रोत भी हैं। मानव अपनी असत् प्रवृत्तियों पर विजय पाने का युगों से परिश्रम कर रहा है। इस कठिन और तपःसाध्य कार्य में उसे अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ता है। इन नाटकों में अपने आदर्श की पूर्ति देख गद्गद् हो उठना उसके लिए सहज और स्वाभाविक ही है।

इन चर्मपुतलियों को सुरक्षित रखने के लिए इन्हें काठ के डिब्बे में मयूरपंखों के बीच उसी परिमाण की पात्री में रखना ही एकमात्र उचित उपाय है। क्योंकि उन्हें इस प्रकार पात्री में रखने से वे मुड़ती नहीं और परिणामतः टूटती नहीं हैं। तथा मयूरपंख उनकी कीड़ों से रक्षा करते हैं।



विश्वपुरुष, भारतात्मा राम

● डॉ० रामप्रसाद मिश्र

सम्प्रति भारतवर्ष की चिरन्तन-धर्मसाधना जिन आहूत-अनाहूत व्यवधानों-व्यतिक्रमों को अनुभूत कर रही हैं उनको देखते हुए राम के साथ विश्वपुरुष विशेषण का प्रयोग ज्ञानाभास अथवा अध्यास को विस्मय-विजड़ित कर सकता है। धर्मसाधना के साथ चिरन्तन शब्द का प्रयोग विकासवाद अथवा द्वन्द्वात्मक-भौतिकवाद के निकषों पर चाहे जैसा लगे, 'धारणात् धर्ममिति आहुः धर्मो धारयते प्रजाः' के आप्तवाक्य-निकष पर शतशः अनुकूल होगा, इसमें सन्देह नहीं। भारतीय धर्मसाधना आबद्ध नहीं, मुक्त है; भारतीय धर्मसाधना बाह्य नहीं, आभ्यन्तर है; भारतीय धर्मसाधना आस्थामात्र नहीं, सर्वगत है; भारतीय धर्मसाधना युगमात्र नहीं, चिर है। धर्म युग-चिर का सेतु है, धर्म युग-चिर का हेतु है, धर्म युग-चिर का केतु है। अस्तु।

राम के साथ विश्वपुरुष विशेषण की उपयुक्तता विराट् ऊहापोह की अपेक्षा रखती है; यह लिखते हुए मानस विविध-वेदना-तरंगित हो उठता है। पाश्चात्य मेधा के पूर्वग्रह ने भारतवर्ष के नेत्रद्वय राम-कृष्ण को पुराण-कथा कह कर शासितजन बुद्धिभ्रम-दृष्टिभ्रम उत्पन्न करने का अथक प्रयास किया है। किन्तु जो मनस्वी जन परप्रत्ययनेय-बुद्धि की निरुपायता से परिचित हैं उनके लिए सत्य सत्य ही रहेगा। राम ने जीवन की जिस पूर्णता का स्पर्श किया था, राम ने उदात्त आदर्शों को जो क्रियात्मक रूप दिया था, राम के नेतृत्व में उनके अनुजों तथा अनुज-सन्तानों ने जिस विशाल धर्मराज्य की स्थापना की थी, वह-सब प्राचीन-विश्व को भली भांति ज्ञात था, इसके प्रमाण आज भी विद्यमान है। प्राचीन मिस्र के सम्राट् रामसेस अथवा रैमसीस महान् का नाम राममूलक था; रामशेष का तद्भव रूप। जिस ऐश्वर्यशाली मिस्र के सम्राट् विवाहोत्सवों पर संगृहीत पार्थिव-शरीर (ममी) का दर्शन आवश्यक समझते थे उन्हें यह भी ज्ञात था कि राम ही शेष रहेंगे और-कुछ नहीं। प्राचीन रोमन नृवंश एवं भाषा की दृष्टियों से ही भारत के सम्बन्धी न थे प्रत्युत् वेशभूषा एवं अभिधान-परम्परा में भी उसके अत्यन्त निकट थे। जिसे अंग्रेजी में रोम कहा जाता है। वह इटली के उच्चारण में रॉमा है। इटली, जो भौगोलिक दृष्टि से 'पश्चिम का भारत'

है, एक से दूसरे छोर तक रॉमा और रॉवाना से भी सम्पन्न है। मैथ्यू (मत्ती) रचित सुसमाचार (ईसाई-बाइबिल का एक भाग) ईसा के एक पूर्वज का नाम राम बतलाता है। पश्चिम एशिया, जो पैगम्बरों की भूमि रही है तथा आज भी यहूदी-ईसाई-मुसलमान-बन्धुओं के पावन तीर्थों से आपूर्ण है, रामअल्लाह जैसे नगरों से सम्पन्न है। राम अल्लाह है! ईरान, जिसके अभिधान में आर्य शब्द निहित है तथा जिसका नरेश आज भी आर्य-मिहिर (आर्य-सूर्य) की पदवी से सम्मानित किया जाता है, 'रामसर' जैसे स्वर्गतुल्य स्थानों से सम्पन्न है। पाकिस्तान, जो कल तक भारत का भाग था तथा जिसके निवासी संस्कृति की अधिकांश दृष्टियों से भारतीय हैं, राम प्रभाव से ओतप्रोत है। तक्षशिला, जहां प्राचीन काल में महान् विश्वविद्यालय स्थित था और उसमें विश्व के महानतम वैयाकरण पाणिनि एवं विश्व के महानतम कूटनीतिज्ञ चाणक्य जैसे प्रतिभाशाली महामानवों ने शिक्षा प्राप्त की थी, भारत-पुत्र तक्ष द्वारा स्थापित नगर है, इस तथ्य का प्रमाण बाल्मीकि-रामायण में विद्यमान है। बाल्मीकि रामायण से यह स्पष्ट हो जाता है कि भरत कैकय-देश की राजकुमारी कैकेयी के पुत्र थे। मातृकुल-सम्बद्ध युधाजित् उन्हें अयोध्या से कैकय ले जाया करते थे। दशरथ की मृत्यु के समय भी वे कैकय में थे। कालान्तर में राम के अयोध्या-नरेश बन जाने पर उन्होंने गन्धर्वों से अनेक युद्ध किए थे। ये युद्ध अविभाजित भारत के पश्चिमी तथा पश्चिमोत्तरीय अंचलों में हुए थे। कैकय देश स्वयं इन्हीं अंचलों में स्थित था। भरत इन अंचलो से भली भांति परिचित थे। उनके पुत्र ने यहां अपनी राजधानी बनाई थी। राम के पुत्रद्वय लव-कुश द्वारा स्थापित लवपुर (लाहौर) तथा कुशपुर (कसूर) नगर आज भी इन्हीं रूपों में विख्यात् है। यह तो हुई भारत से पश्चिम में राम–प्रभाव की चर्चा। इन क्षेत्रों में काल-क्रम तथा इतिहास-गति के कारणों से भारतीय संस्कृति का प्रभाव क्षीण हो गया है। दक्षिण-पूर्व एशिया में ऐसा बहुत कम है। कम्बोज, जिसका उल्लेख प्राचीन वाङ्मय में विद्यमान है, राम-मन्दिरों से सम्पन्न हैं। थाई देश में बुद्ध के साथ राम भी पूज्य हैं; थाई भाषा में रामायण विद्यमान है। यव-स्वर्ण (जावा सुमात्रा) प्रभृति वाङ्मय-वर्णित द्वीपों का देश इण्डोनेशिया धर्म की दृष्टि से इस्लाम का अनुयायी भले ही हो गया हो, संस्कृति के अन्य पक्षों की दृष्टि से राम-मय है। वहां रामलीला होती है। राम वहां के राष्ट्र-नायक (नेशनल हीरो) हैं। और-तो-और, चीन की भाषा (चीनी) में रामायण की रचना हुई थी, जिसकी खोज विश्वविख्यात भाषाविद् एवं भारतविद् स्वर्गीय डा० रघुवीर ने की थी। नेपाल पर राम की छाप सर्वाधिक है; वहाँ जनकपुर है, वहां के नरेश राम के वंशज हैं! लङ्का और राम का सम्बन्ध सुस्पष्ट है ही। इस स्थिति

में, राम को विश्वपुरुष कहा जाना सर्वथा उपयुक्त है। इस दिशा में पर्याप्त अध्ययन-अनुशीलन भी अपेक्षित है।

भारतात्माराम—राम भारत की आत्मा हैं। भारत में जितने रामपुर हैं उतने अन्यपुर नहीं। जम्मू-कश्मीर में रामवन है, तो तमिलनाडु में रामनाथपुरम्। अयोध्या, प्रयाग, चित्रकूट, पञ्चवटी, रामेश्वरम् प्रभृति नाना राज्य-व्याप्त तीर्थ राम-सम्बद्ध हैं। रामनवमी, विजयादशमी, दीपावली प्रभृति चिर-जीवन्त पावन-पर्व राम-सम्बद्ध हैं। पुराकाल में जम्बूद्वीप के इस विशाल भरतखण्ड को जिन महतोमहीयान् राष्ट्रनिर्माताओं ने एक प्राण रूप प्रदान किया था उनमें राम अन्यतम एवं अतुलनीय थे। विन्ध्य को नमित कर दक्षिणावर्त्त में प्रवेश करने वाले तमिल के आदिग्रन्थ-प्रणेता महर्षि अगस्त्य एवं परशु के अग्रभाग से पावन केरल-भूमि को अर्णव से ऊपर लाने वाले परशुराम ने जो परम्परा स्थापित की थी, राम ने उसे पूर्णता प्रदान की। राम न होते तो भारतवर्ष रूस-रहित यूरोप के सदृश नाना-देश-मय महाद्वीप होता, राष्ट्र नहीं। राम ने इस विराट् आसेतुहिमाचल भूखण्ड को एकतन-एकप्राण कर दिया। उनके यज्ञ में जो नरेश आये थे वे इस तथ्य के आदिप्रमाण हैं। शस्त्र-शास्त्र-समन्वय राम भारत के महानतम निर्माता थे। उनकी विराट् यात्राएं, उनके विराट्-क्षेत्र-व्याप्त भक्त-मित्र, उनके विराट्-भूखण्ड-प्रसरित युद्ध, उनके विराट् यज्ञ इत्यादि इत्यादि उन्हें विराट् भारत का प्राण सिद्ध करने के लिए पर्याप्त से पर्याप्त अधिक हैं। आदिकवि महर्षि वाल्मीकि के शब्दों में 'समुद्र-इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवान्-इव' राम हिमाचल-सागर-पर्यन्त भारत के मानवीकरण थे; समग्र भारत राम की विराट् मूर्ति है। राम भारत के कण-कण में रम रहे हैं।

राम, कृष्ण के साथ-साथ, भारतीय एकता के महानतम प्रतीक हैं। उनसे सम्बद्ध तीर्थ, उनसे सम्बद्ध पर्व, उनसे सम्बद्ध साहित्य इत्यादि भारत की एकता को सर्वाधिक स्पष्ट करते हैं। भारत के प्रत्येक भाग में उनसे सम्बद्ध अभिधान प्राप्त हो जाएंगे। संस्कृति की ज्येष्ठ-श्रेष्ठ दुहिता कविता राम में सर्वाधिक रमी है। जितनी और जैसी कविता राम पर रची गई है उतनी और वैसी कविता संसार में किसी भी देवता या मानव या दावन या अन्य पर नहीं रची गई। वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति, कम्बन्, एडुत्तच्छन्, कृत्तिवास, तुलसीदास, केशवदास प्रभृति प्रथम श्रेणी के महाकवियों ने उन पर महान् ग्रन्थों की रचना की है। प्राचीन-अर्वाचीन, उत्तर-दक्षिण, निर्गुण-सगुण, निराकार-साकार, सब राम में एक हो गए हैं। राम बौद्ध-वाङ्मय में विद्यमास हैं; दशरथ-जातक। राम जैन-वाङ्मय में विद्यमान हैं;

पउम-चरिउ। निर्गुणमार्गियों ने राम नाम की महिमा गाई है ; कबीर, नानक इत्यादि में राम भरे पड़े है, रैदास ने रामायण रची थी । इस युग में भी राम का प्रभाव कम नहीं हुआ। गान्धी राम-संकीर्त्तन के परम प्रेमी थे, समाजवादी डा० राम मनोहर लोहिया ने चित्रकूट में रामायण-मेला लगवाया था । रामराज्य की कल्पना अभिनव राजनीति को भी अत्यन्त प्रिय रही है। आधुनिक भारतीय भाषाओं में राम पर शत-शत ग्रन्थ रचे गए हैं। केवल हिन्दी में आधुनिक राम-काव्य वृहत् प्रबन्ध का विषय है । रामचरित उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', सुमित्रानन्दन पन्त तथा बलदेव प्रसाद मिश्र इत्यादि कवियों ने रामचरित-चिन्तामणि, साकेत, वैदेही-बनवास, उर्मिला, राम की शक्तिपूजा, पुरुषोत्तम-राम तथा साकेत-सन्त इत्यादि महत्त्वपूर्ण रचनाएं बीसवीं शताब्दी में ही की हैं। प्रस्तुत निबन्ध के लेखक ने भी 'पुरुषोत्तम' शीर्षक से चालिस सर्गों के छन्द-अन्त्यानुप्रास-मुक्त काव्य की रचना की है। सीता, हनुमान, रावण इत्यादि पर भी काव्य रचे गए हैं। राम पर रचित स्फुट रचनाएं गणनातीत हैं। राम-सम्बद्ध लोककथा एवं लोकगीत-साहित्य अत्यन्त महान् है तथा उसमें अनवरत रूप से वृद्धि होती आ रही है। राम काव्य के चिरन्तन महानायक हैं। कविता का आरम्भ उनके चरित-गान के साथ हुआ था और उसका विकास अप्रतिहत रूप से होता आया है, होता जाएगा। राम काव्य के अनन्त प्रेरक हैं; मध्यकालीन भारत की आत्मा तथा चिरन्तन भारतीय धर्म-परम्परा के एक अमर प्रतीक गोस्वामी तुलसीदास इस तथ्य से स्वभावतः परिचित थे,

भगति हेतु बिधि-भवन बिहाई।
सुमिरत सारद आवति धाई ॥
राम चरित सर बिनु अन्हवाए।
सो श्रम जाइ न कोटि उपाए ॥

और राष्ट्रकवि मैथिली शरण गुप्त इस तथ्य के जागरूक प्रतिपादक थे,

राम, तुम्हारा वृत्त स्वयं ही काव्य है।
कोई कवि बन जाय सहज सम्भाव्य है ॥

राम चिरन्तन हैं, राम अनन्त हैं। रामलीला चिरन्तन है, रामलीला अनन्त है। रामकथा चिरन्तन है, रामकथा अनन्त है। रामकाव्य चिरन्तन है, रामकाव्य अनन्त है। क्यों ? क्योंकि, जीवन में उदात्त चिरन्तन है, अनन्त है, अपेक्षित है, आवश्यक है। राम उदात्त का आकार थे, राम उदात्त का प्राकार थे; राम उदात्त का आधार

थे। राम उदात्त का आकार हैं, राम उदात्त का प्राकार हैं; उदात्त का आधार हैं। राम उदात्त का आकार रहेंगे, राम उदात्त का प्राकार रहेंगे; राम उदात्त का आधार रहेंगे।

राम शस्त्र थे, राम शास्त्र थे; राम शस्त्र-शास्त्र-समन्वय थे। शस्त्र-शास्त्र-समन्वय का नाम मानवत्त्व है। शस्त्र मानवत्त्व का एक अतुलनीय प्रेरक तत्त्व है। अतिशय-कोमलचर्म एवं अतिशय-दयनीयजन्म मानव शस्त्र के साहाय्य से ही जीवित बना रह सका है। काष्ठकाल, पूर्वपाषाणकाल, ताम्रकाल, लौहकाल, आग्नेयास्त्रकाल अणुकाल, परमाणुकाल, प्रक्षेपणास्त्रकाल मानव-सभ्यता का इतिहास बता डालते हैं। युद्ध प्रिय हो या अप्रिय, आवश्यक अवश्य रहा है। मानवत्त्व के अनेकानेक महानतम प्रयास एवं बलिदान युद्ध से ओत-प्रोत रहे हैं। राम इस अटल तथ्य से परिचित थे। कृष्ण इस अटल तथ्य से परिचित थे। राम और कृष्ण मानवत्त्व के नेत्र हैं। वे द्रष्टा न हों, यह सम्भव न था। प्रलय सृष्टि के लिए अनिवार्य है, आवश्यक है। ध्वंस निर्माण के लिए अनिवार्य है, आवश्यक है। सागर–मंथन का शाश्वत रूपक अमृत-विष को बन्धु घोषित करता है। राम और कृष्ण सत्य के प्रशान्त द्रष्टा थे, सुविधा के उपासक नहीं। इसीलिए, वे चिरन्तन-लोकनायक हैं। युद्ध रहित मानवत्त्व की कल्पना असम्भव है। युद्ध ने विज्ञान विकास में सर्वाधिक योगदान किया है। युद्ध ने धर्म के विकास में सर्वाधिक योगदान किया है; हिन्दू, यहूदी, इस्लाम प्रभृति धर्म इसके निदर्शन हैं। प्रतिक्रिया-प्रतिफलित जैन, बौद्ध, ईसाई प्रभृति धर्म भी युद्ध से असंपृक्त नहीं रह सके। युद्ध ने कविता के विकास में सर्वाधिक योगदान किया है; वीरता बलिदान इत्यादि का काव्य में महान् स्थान रहा है। युद्ध ने दर्शन के विकास में भी महत्त्पूर्ण योगदान किया है; संसार की महानतम दर्शन-गीतिका श्रीमद् भगवद् गीता युद्धभूमि में रची गई थी। अतएव युद्ध की निन्दा निस्सार है। किन्तु, युद्ध का प्रकट परिणाम अत्यन्त भयावह होता है। युद्ध में असत्य तथा घृणा का पोषण करना पड़ता है। अनवरत युद्ध मानवत्त्व में व्याघात उत्पन्न कर सकता है। अतएव, युद्ध को साध्य नहीं माना जा सकता। राम एवं कृष्ण इस तथ्य से भी परिचित थे। राम ने हनुमान् एवं अंगद के माध्यम से शान्ति की दिशा में रुचि व्यक्त की थी, कृष्ण ने स्वयं दौत्यकर्म किया था। राम एवं कृष्ण के महानतम युद्ध व्यक्तिगत लाभ के लिए नहीं लड़े गए थे। विजेता राम किष्किन्धा या लङ्का में कोई रुचि न रखते थे; वे विजित नगरों में घुसे तक न थे। उन्होंने हत शत्रुओं के राज्य उन्हीं के अनुजों को प्रदान कर दिए थे। बालि के प्रसंग में तो उन्होंने सुग्रीव को राजा तथा अंगद को युवराज के पद प्रदान किए थे; युवराज बालि पुत्र, सुग्रीव पुत्र नहीं! संसार के

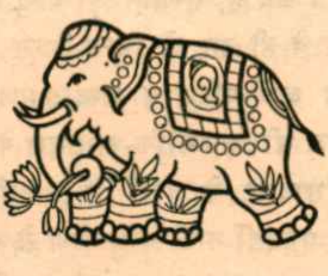
समग्र इतिहास में ऐसा कोई विजेता नहीं मिलता। कृष्ण ने महाभारत का सफल नेतृत्व किया था। किन्तु उन्होंने तिल भर भी व्यक्तिगत लाभ नहीं उठाया। ऐसा उदाहरण अन्यत्र कहां मिलेगा? राम का शस्त्र शास्त्र की रक्षा का उपादान था। कृष्ण का शस्त्र शास्त्र की रक्षा का उपादान था।

सहस्राब्दियों से राम के व्यक्तित्व पर कतिपय आरोप लगाए जाते चले आ रहे हैं। सम्प्रति साम्प्रदायिक-राजनीतिजीवी इन आरोंपों को विशेष चतुरता के साथ दुहरा देते हैं। वही बालिवध, वही शम्बूक-प्रसंग, वही सीता-त्याग! बालि-वध के प्रसंग में राम की निन्दा करने वाले महानुभाव बौद्धिक-व्यायाम के अतिरेक में परिस्थितिओं का तनिक भी ध्यान नहीं रखते। राम को सीता के साथ बनवास करते हुए लगभग १३ वर्ष व्यतीत हो चुके थे। १४वें वर्ष के समाप्त होते ही वे अयोध्या-प्रवेश के लिए वचन-बद्ध थे क्योंकि वैसा न होने पर भरत प्राणान्त का प्रण कर चुके थे। पिता के प्रण एवं भ्राता के प्राण की रक्षा करने वाले राम १४ वर्ष समाप्त होते ही अयोध्या पहुंचना आवश्यक समझते थे। दूसरे, सीता की चिन्ता किसी दीर्घकालीन व्यवधान का अवसर नहीं दे सकती थी। तीसरे, बालि के स्वेच्छाचार अत्याचार-मूलक अपराध स्पष्ट थे। चौथे, एक नया महायुद्ध करना अथवा निराधारप्राय रक्तपात करना उन्हें अभीप्सित न था; एक व्यक्ति के अन्त से समस्या का समाधान उन्हें नीतिसंगत लगा था। रही शम्बूक-चर्चा, सो वह वाल्मीकि-रामायण के उस उत्तर काण्ड में बद्धमूल हैं जिसे प्रायः समग्र पूर्वग्रहविहीन विद्वन्मण्डली प्रक्षिप्त मानती है। राम का सारा वन-जीवन गुह, निषाद, शबर, बानर इत्यादि जातियों के साथ व्यतीत हुआ था। उन-सब के प्रति उनका अगाध अनुराग था। अतएव, शम्बूक-कथा परवर्त्ती जातिप्रथा विकृति की परिस्थितियों में इसलिए कल्पित की गई जिससे उसे शक्ति प्रदान की जा सके। खेद है, सम्प्रति जो बन्धु बाल्मीकि एवं रैदास इत्यादि के प्रति आस्था व्यक्त करते हैं वे ही इन दो भिन्न-भिन्न रामायणकारों के आराध्य-नायक राम पर निराधार एवं व्यर्थ-परिणाम शब्दाक्रमण करते रहते हैं। जहां तक सीता-त्याग का प्रश्न है, वह भी बाल्मीकि-रामायण के उत्तरकाण्ड से सम्बद्ध है। और-तो-और, तुलसीदास, नाभादास के शब्दों में बाल्मीकि-अवतार तुलसीदास, तक ने उसे स्वीकार नहीं किया। परवर्ती नारी-दृष्टिकोण ने इस कथा की कल्पना की है, ऐसा कहना तर्करहित नहीं कहा जा सकता। और, यदि राम के जीवन में कुछ ऐसे विन्दु भी हों जो सम्प्रति प्रिय न लगें, तो आश्चर्य अथवा आक्रोश कैसा? "कालक्रमेण जगतः परिवर्त्तमानः" एवं "भिन्नरुचिर्हि लोकाः" पर भी ध्यान दिया जा सकता है। संसार में कौन सा ऐसा शरीरधारी हुआ है जिसकी कहीं न कहीं अथवा

कभी-न-कभी निन्दा न की गई हो ? अस्तु।

पूर्ण–मनुष्यत्व के परम-प्रतीक राम, सहस्राब्दियों से इतिहास के उत्थान-पतन व्यवधान-व्यतिक्रम इत्यादि से होते हुए, अमरत्व तथा ब्रह्मत्व के अर्थ बनते चले आ रहे हैं। "न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्" तथा "अहं ब्रह्मास्मि" की विराट्-व्याख्या भगवांन् राम से रहित भारत की कल्पना सम्भव नहीं। अनेक युग आए-गए, अनेक सम्राट् आए-गए अनेक महापुरुष आए-गए, अनेक नेता आए–गए; पर राम आए और आए ही बने रहे, गए नहीं। उनकी महानता को व्याख्या की अपेक्षा नहीं। हमें राम की आवश्यकता है; राम को हमारी आवश्यकता क्या होगी! सम्प्रति, भारत को सशक्त एवं सच्चरित्र राष्ट्र का रूप प्रदान करने के लिए हम सब को राम के चरित एवं चरित्र का व्यापक अनुशीलन करना चाहिए, क्योंकि उनसे हमें सदैव शक्ति एवं शील की प्राप्ति हुई है, और होती रहेगी। 'राम की जय' का अर्थ 'मानवत्व की जय' है, 'भारत की जय' है, धर्म की जय' है।

★



सत् का अर्थ

● डॉ० रामदत्त भारद्वाज

एक राजा था, मैं हूँ, तुम प्यारे हो, कुएं में पानी है, दूध सफेद होता है इत्यादि वाक्यों में 'था' 'हूँ', 'हो', 'है' आदि शब्दों से क्या तात्पर्य है? यदि किसी बालक से, अथवा साधारण स्त्री-पुरुष से, यह प्रश्न किया गया, तो उसने कह दिया कि 'था' का अर्थ है 'था', 'हूं' का 'हूं', 'है' का अर्थ है 'है' और क्या? यदि साधारण कोटि से अधिक व्युत्पन्न व्यक्ति से यह प्रश्न किया गया, तो उसने उत्तर में ऐसे पर्यायों का अवलम्बन किया, यथा: भाव, भूति, सत्ता, सत्य, सत्त्व, विद्यमानता, वास्तविकता, अस्तित्व। मैं कुछ ऐसे महानुभावों के सम्पर्क में भी आया जो ब्रह्म के विषय में विद्वत्तापूर्ण प्रवचन और ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने लिए चामत्कारिक तर्क और युक्तियों का प्रदर्शन, कर सकते थे। किन्तु इस प्रश्न के करने पर कि 'सत्ता' से आपका क्या अभिप्राय है, उनका भी उत्तर बालकों का सा ही (उत्तर) रहा; क्योंकि उन्होंने इस विषय में पहले कभी विचार नहीं किया था। हो सकता है कि कुछ श्रोताओं को 'सत्ता' का अर्थ सुगम और स्वत: सिद्ध प्रतीत हो, अतएव प्रस्तुत चर्चा उन्हें निरर्थक भी लगती हो। अस्तु।

भारतीय दार्शनिकों ने 'सत्ता के स्वरूप और ज्ञान के विषय में कुछ इस प्रकार के विचार उपस्थित किए हैं, यथा—

(१) 'सत्ता' घटादि वस्तु-स्वरूप है। (२) अथवा वह एक ऐसा व्यापक विकारी द्रव्य है, जो अपने को सर्व प्रकार के पदार्थों के रूप में परिणत कर लेता है। (३) अथवा वह एक अद्वैत अधिष्ठान है जो कि व्यवहार में विद्यमान वस्तुओं के रूप में अपनी मायिक प्रतीति करा रहा है। (४) अथवा वह वस्तु का धर्म है। यदि 'सत्ता' केवल धर्म (गुण) है, तो उसकी कल्पनाएं इस प्रकार की हो सकती हैं, यथा—

(क) असत्त्व व्यावृत्तित्व, (ख) विधि-प्रत्यय-वेद्यत्व, (ग) प्रमाण-विषयत्व, (घ) अर्थ-क्रियाकारित्व, (ङ) अस्तित्व, (च) वर्तमानत्व, (छ) पराजाति।

युरोप के दार्शनिकों ने भी 'सत्ता' के सम्बन्ध में गम्भीर विचार किया है। उदाहरण-रूप से कहा जा सकता कि हिरेक्लाइटस ने 'सत्' को, सतत प्रक्रिया के रूप में, अद्रव्य तेज समझा। पर्मिनिडीज़ का मत है कि असत् भावरहित एवं अचिन्त्य है, अतः भाव तो दिक्कालातीत एकमात्र सत् है। एम्पिडोक्लीज़ के अनुसार पृथ्वी, अप्, वायु और तेज इन चार तत्त्वों का आकर्षण-विकर्षण प्रेम-घृणा के द्वारा होता रहता है। एनेक्सेगोरेस की मान्यता है कि प्रत्येक वस्तु में प्रत्येक द्रव्य का कुछ प्रचालक बल—विद्यमान है। ल्युसिपस सोचते हैं कि सत् अनन्त आकार के अगणित अणुओं से निर्मित है। ज़ीना के मत से वह अणोरणीयान् और महतोमहीयान् है। पाइथेगरैस की कल्पना है कि यह संसार संख्या-समन्वय है। परमाणुवादी डिमोक्रिटस के विचार से एक ऐसा स्थाई (सतत) सत् है जिसका गुण है प्रतिभास (Phenomena) का स्पष्टीकरण। प्लेटो के मतानुसार विचार (Ideas) वह अशरीरी भाव (Being) है जो प्रत्ययों (conceptions) के द्वारा ज्ञात होता है, और दार्शनिक ज्ञान है संस्मरण (recollection)। अरस्तु का कथन है कि सत्य वास्तव (True Reality) वह सार है जो स्वयं प्रतिभास (phenomena) को उद्घाटित करता है; और वह है शुद्ध अन्तिम कारण (Final cause), शुद्धरूप (Pure form), ईश्वर, पूर्ण सत्ता (Perfect Being), तथा साहङ्कार शुद्ध चित्। नव्य प्लेटोवादी उसे आत्मा मानते हैं। प्लोटिनस ने विचार और सत् के द्वैत में विश्वास किया है। जॉन स्कोटस की धारणा है कि सत्य का अतएव भाव का अनुसन्धान सार्विक (यूनिवर्सल) में करना चाहिए। केंटरबरिके एतसेल्म ने ईश्वर-सत्ता की सिद्धि के निमित्त तात्त्विक (ऑण्टोलोजिकल) तर्क को उपस्थित किया। दकार्त्ते के अनुसार शरीर और मन ससीम वस्तुएं हैं, और ईश्वर अनन्तभाव है। सोलोमन मेमन के अनुसार, चित् से बाहर (भिन्न) सत्ता को मानना स्वतः विरोधात्मक है। आत्मनिष्ठ वस्तु (थिङ् इन इटसेल्फ) यह एक असम्भव प्रत्यय है, क्योंकि सत् की कल्पना केवल चित् में, चित्प्रकार के रूप में हो सकती है। फिक्टे के विचार से समग्रसत् तर्कज परिणाम के रूप में अवगम्य है और दार्शनिक ज्ञान का विषय है तर्कना-पद्धति।

मेधावियों ने ऐसे प्रश्न भी प्रस्तुत किए हैं, यथा—(अ) क्या 'सत्ता' की तीन श्रेणियां सम्भव हैं—प्रातिभासिक, व्यावहारिक, पारमार्थिक। (आ) क्या उसे सदसद्भ्यामनिर्वचनीयः कह सकते हैं? (इ) हमें उसका भान कैसे होता है—प्रत्यक्ष से, अनुमान से, उपनाम से, अथवा शब्द प्रमाण से? (ई) क्या 'सत्' और 'चित्' एक ही पदार्थ हैं?

यद्यपि इन समस्याओं का विवेचन मनीषियों के द्वारा हुआ है, तथापि उससे मुझे पूर्ण सन्तोष नहीं मिला। अतएव मैं इस समस्या पर निजी मोटे ढंग से विचार उपस्थित करने का विनम्र प्रयत्न करता हूं।

'सत्ता' हमारी सृष्टि है। यह कोई सरल प्रत्यय या विचार नहीं। इसका अर्थ जटिल है जो निम्न लिखित एक या अधिक रूपों में निहित है।

१) **जीवन-वृद्धि**। प्राचीन काल में एक राजा था। ऐसा कहने से हमारा अभिप्राय है कि प्राचीन काल में एक राजा जीवित था, अर्थात् वह सांस लेता था। उस उद्यान में एक पीपल है, अर्थात् उस उद्यान में पीपल नाम का पेड़ उग रहा है।

२) **निश्चित स्थिति**। जब हम यह कहते हैं कि मेज पर छड़ी है, तब हमारा आशय यह होता है कि छड़ी मेज पर पड़ी है। जब हम कहते हैं कि छड़ी कोने में है, तो हमारा आशय होता है कि छड़ी कोने में खड़ी है।

३) **स्पर्श गम्यता**। जब हम यह कहते हैं कि चाय गर्म है, तब हमारा अभिप्राय है कि छूने पर हम चाय को वैसा अनुभव करते हैं। जब कोई यह कहे कि चलचित्रपट पर दृश्यमान व्यक्ति नहीं हैं, तब हमारा अभिप्राय यह होता है कि हम उक्त पट पर छायांकित व्यक्ति को पकड़ नहीं सकते।

४) **सुख-दु:ख-दान की क्षमता**। जब हम यह कहते हैं कि रोगी के अंगूठे में पीड़ा है, तब हमारा अभिप्राय यह है कि रोगी अपने अंगूठे में दु:ख का अनुभव करता है। जब मैं यह कहता हूं कि मेरे हृदय में तुम्हारे प्रति प्रेम है तब मेरा अभिप्राय है कि प्रेम-भाव का अनुभव करता हूं।

५) **विशिष्ट गति अथवा निश्चल स्थिति**। जब हम यह कहते हैं कि यह रेल है, तब साधारण रूप से हमारा यह आशय रहता है कि हम रेल को चुपचाप खड़ी (अथवा चलती) हुई अवस्था में देखते हैं।

६) **प्रत्यय अथवा विचार**। जब हम ऐसा कहते हैं कि रीछ होता है, अथवा चींटी होती है, तब हमारा अभिप्राय है कि हमने 'रीछ' अथवा 'चींटी' का विचार या प्रत्यय मन में किया है।

७) **योजक** (कॉप्युला)। तार्किक पदों में (अर्थात् उद्देश्य-विधेय में), यह कुछ वैसा काम करता है जैसा कि रेल के डिब्बों को जोड़नेवाला कुण्डा। 'है' का अभिप्राय है धन चिह्न से और 'नहीं है' का ऋण चिह्न से। सब मानव मरणशील हैं, चार्वाक एक मानव है, अतएव चार्वाक मरणशील है। इस तर्क-प्रस्तार में हम चार्वाक

की सत्ता के बारे में कुछ नहीं कहना चाहते, इसलिए यहां 'है', 'था' और 'होगा' सब पर्याय-मात्र हैं। उसकी टोपी लाल है=उसकी (टोपी+लालिमा)। उसकी टोपी लाल नहीं है=उसकी (टोपी—लालिमा)।

८) **स्थान**। मेरी कुर्सी यहां है; आपका घोड़ा वहां है, कूप में जल है। इन वाक्यों द्वारा मैं कुर्सी, घोड़े और जल के स्थान (दिक्) को बताना चाहता हूं।

९) **अहङ्कार अथवा आत्मोपलब्धि** (सैल्फ कांशसनैस)। जब मैं कहता हूं कि 'मैं हूं' तब मैं अपने आपे का अभिज्ञ हो जाता हूं, अथवा इस प्रकार अभिज्ञ होने का मेरा अभिप्राय है।

१०) **वर्तमान, भूत अथवा भविष्य**। डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् बीसवीं शती के हैं; कबीर सोलहवीं शती के थे; सन् १९७४ ई० में महासमर होगा। इन वाक्यों में 'थे', 'हैं' और 'होगा' क्रमशः भूत, वर्तमान और भविष्यत् काल को सूचित करते हैं।

११) **गुण का आरोप या अवधारण**। स्वर्ग सुखमय है; ब्रह्म परम है; भगवान् विष्णु विश्व के पालक हैं। इन वाक्यों में 'सुखमय', 'परम' और 'विश्वपालक' विचाराधीन उद्देश्य की विशेषता की ओर निर्देश अथवा अवधारण है। यह चाकू अच्छा है। मैं इस वाक्य में चाकू को अच्छा कहता हूं, यद्यपि चाकू नैतिक जगत् से बाहर का पदार्थ है। चाकू इस लिए अच्छा है कि उससे हमारा काम निकलता है, और वह इसलिए बुरा है उससे बालक की अंगुली कट जाती है। इसी प्रकार अग्नि वश में रहने पर उपकारी है, किन्तु हमारे ऊपर अधिकार कर लेने पर वह बुरी भी है; क्योंकि वह भोजन पका देती है और घरों को जलाकर नष्ट भी कर देती है। निस्सन्देह हम अनैतिक पदार्थों में नैतिक गुणों का आरोप कर देते हैं।

१२) **स्थान-हेतु से वस्तु का अभेद**। यह वही वृक्ष है जिसे मैंने तीन वर्ष पूर्व देखा था। यह वही नदी है जिसे मैंने यहां गत वर्ष देखा था। इन वाक्यों का अभिप्राय है कि मैं वृक्ष या नदी को वही प्राचीन वस्तु समझकर देख रहा हूं, क्योंकि वह उसी स्थान के निकट उग रहा या बह रही है जिसमें कोई अनुभवगम्य परिवर्तन नहीं हुआ है।

१३) **प्राक् चिन्तित किन्तु निर्विवाद गुणों, विशेषताओं, उपाधियों या धर्मों के कारण वस्तु का तादात्म्य**। यह वही व्यक्ति है जिसे मैंने पन्द्रह वर्ष पूर्व देखा था। इस वाक्य से मेरा अभिप्राय यह है कि पन्द्रह वर्षों के इस दीर्घ अन्तराल में, अनेक परिवर्तनों के होने पर भी, मैं इस बालक को पहचानता हूं, क्योंकि इसमें कुछ ऐसी

विशेषताएं हैं जिनका मुझे स्मरण है और जिन्हें मैं अभी तक इसमें पा रहा हूं, यथा विशिष्ट आकृति चिह्न या गुण।

१४) **किसी पदार्थ के अनुभव की ऐसी आत्यन्तिक एवं अव्यक्त आवृत्ति** जिसकी तद्रूपता में हमारा अव्यक्त विश्वास रहता है, यथा : वृक्ष है=वृक्ष—वृक्ष—वृक्ष—वृक्ष (अज्ञात संख्या तक)। किसी पदार्थ के तात्कालिक अनुभव की अतिद्रुत किन्तु अव्यक्त आवृत्ति के संक्षिप्त रूप के निमित्त 'अस्तित्व' का प्रयोग होता है।

१५) **किसी प्रतिज्ञा** (जजमेंट) **के मनोरथ** (मेंटल कंटेंट) को, उस अर्थ से परे किसी द्रव्य के रूप से निर्दिष्ट करने की परम्परागत अथवा विचाराभ्यास-जन्य प्रवृत्ति। यह बाह्य निर्देश किसी मानस अथवा तद्व्यतिरिक्त (एक्स्ट्रा-मेंटल) द्रव्य के प्रति हो सकता है। जब मनोरथ और बाह्यार्थ में सामञ्जस्य नहीं होता, तब उस अवस्था को विकल्प (अथवा हैल्युसिनेशन) कहा जाता है; और जब जब मनोरथ और उस बाह्यार्थ में, जो कि मिथ्या सिद्ध होता है, दोषपूर्ण सामञ्जस्य होता है, तब उस दशा को विभ्रम (अथवा इल्युज़न) कहा जाता हैं। विकल्प, विभ्रम और स्वप्न प्रातिभासिक हैं। जागरितावस्था में आभ्यन्तर और बाह्य अर्थों का समुचित सामञ्जस्य होता है, उसे व्यावहारिक सत्ता कहते हैं। 'व्यवहार' के लिए अंग्रेज़ी शब्द 'फिनॉमिनन' है, जिसमें स्वप्न, विकल्प, और विभ्रम भी समाविष्ट हैं। जब किसी अतीन्द्रिय पदार्थ अथवा पदार्थों के प्रति सामञ्जस्य (कॉरिस्पोंडेंस) की कल्पना की जाती है, तब हम उसे 'परमार्थ' (न्युमिनन) कहते हैं। कुछ मनीषी 'सत्ता' को वृत्ति' अथवा 'उपसत्ता' (सबसिस्टेंस) से भिन्न मानना चाहते हैं। सत्ता के इस प्रकार के वर्गीकरण की चर्चा प्रस्तुत अभिप्राय से बाहर है।

१६) **किसी पदार्थ का मन में आविर्भाव।** 'सत्ता का आंग्ल पर्याय 'एग्ज़िस्टेंस' है, जिसका वाच्यार्थ है—आगे पैर बढ़ाना, बाहर की ओर बढ़ना, बाहर खड़ा होना, आगे खड़ा होना। कोई भी वृक्ष, जिसका मुझे बाह्येन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष नहीं है, शान्त रूप से रह सकता है; किन्तु बाह्येन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष में वह मेरी ओर अथवा मेरे निकट बढ़ आता है। कोई भी रहस्य मुझ से छिपा रह सकता है; जब उसकी चर्चा मुझसे की जाती है, तब वह मेरी ओर आ जाता है। ऐसा प्राकट्य तो प्रत्यक्ष, कल्पना, अन्तर्ज्ञान (सहजानुभूति) किंवा दैवी प्रेरणा से हो सकता है।

१७) **वस्तु का प्रत्यभिज्ञान।** यह वृक्ष है; यह आज का दिन गर्म है—इन वाक्यों में 'यह' से मैं 'वृक्ष' अथवा 'गर्म' का बोध करता हूं। 'यह' क्या है?

इस प्रश्न के विशेष समाधान की यहां आवश्यकता नहीं। व्याकरण की दृष्टि से यह कर्ता (कारक) हो सकता है और अनिश्चय वाचक सर्वनाम होकर किसी अनवगत किसी पूर्वस्थ शब्द का निर्देश कर सकता है। यह एक पेड़ है, इस वाक्य का अर्थ हो सकता है कि 'एक पेड़ एक पेड़ है। 'यह' तर्कानुषङ्गी (लॉजिकल) कर्त्ता भी हो सकता है। जब हम यह कहें कि आज का दिन गर्म है' तब 'आज का तापमान' तर्कानुषङ्गी कर्त्ता हो सकता है, यद्यपि वह अनिश्चित है। अथवा 'यह' या 'वह' अतीन्द्रिय किंवा परमवस्तु है जिसे हम 'मूर्तव्यक्ति' अथवा 'अन्तिम सत्य' भी कह सकते हैं। जो लोग 'अन्तिम सत्य' (अल्टिमेट रिएलिटि) में विश्वास करते हैं वे कहते हैं कि उद्देश्य ही विधेय के रूप में उपस्थित हो जाता है। वह 'अन्तिम सत्य' 'वृक्ष' के रूप में अथवा 'गर्म' के रूप में प्रतीत होता है। कुछ दार्शनिकों की यह सम्मति है कि 'यह' अथवा 'वह' (इट) किसी 'तत्' (दि दैट) के लिए, एक अस्पष्ट समग्र के लिए, अथवा निर्विकल्प प्रत्यक्ष के लिए प्रयुक्त होता है, जब कि विधेय अपेक्षाकृत 'सुस्पष्ट समग्र' के लिए अथवा सविकल्प प्रत्यक्ष के लिए प्रयुक्त होता है। मेरे विचार से 'सत्ता' शब्द का प्रयोग उपर्युक्त सत्रह अर्थों में विशेषतः अन्तिम चार अर्थों में, होता रहा है।

मेरी आशा है कि इस दिशा में भाषाविज्ञानी चर्चा भी कुछ उपयोगी रहेगी। अंग्रेजी भाषा की सहायक क्रियाएं (ऑग्ज़िलिएरी वर्ब्ज़) कभी विशिष्ट-कार्य-सूचक क्रियायें (एक्शन वर्ब्ज़) थीं। उस भाषा के 'टु बी' धातु के तीन रूप हैं : 'एम्', 'इज़', 'आर'। ऐसी सम्भावना है कि मूलतः उनका अर्थ 'श्वास लेना' था। 'वॉज़' और 'वर' (were) का मूल अर्थ था 'निवास'; और 'बीइंग' (being) का मूलार्थ था 'वर्द्धन' अर्थात् वृद्धि को प्राप्त होना। 'इज़' 'आर', आर्ट' और 'एम' आर्य 'एस्' (es), ग्रीक, लैटिन और प्रत्न टयूटोनिक 'इस् (इज़्), तथा संस्कृत के 'अस्' से व्युत्पन्न हैं। इन सभी क्रियाओं का अर्थ है 'होना'। इसी सम्बन्ध में फ़ारसी के 'हस्तन्' का स्मरण किया जा सकता है। कदाचित् अरबी में, अंग्रेज़ी 'इज़' अथवा संस्कृत के 'अस्' अथवा हिन्दी के 'हैं' के समान कोई शब्द नहीं। अंग्रेज़ी का 'वॉज़ was', 'वास्ट wast' ओर 'वर were' प्रत्न-टयूटोनिक 'वैस wes' तथा संस्कृत के 'वस्' से व्युत्पन्न है जिनका अर्थ है 'रहना या 'बसना'। अंग्रेज़ी के 'बी be', 'बीइंग being' और 'बीन been' संस्कृत के 'भू', यूनानी 'फू' लैटिन 'फ़ू' और प्रत्न-टयूटोनिक 'बियो beo' से व्युत्पन्न हैं, जिसका अर्थ है 'होना'। अंग्रेज़ी का शब्द 'एग्जिस्टेंस existence', 'एग्ज़िस्ट' से निष्पन्न है। और यह भी फ्रांसीसी 'एग्ज़िस्टर' से, लैटिन के 'एग्ज़िस्टर' अथवा 'एक्ससिस्टर exister' से निष्पन्न है, जिनका अर्थ है—बाहर आना, आविर्भूत होना,

प्रतीत होना। 'एक्स ex' का अर्थ है बाहर (आउट) और 'सिस्टियर (sistere)' का अर्थ है: खड़ा करना रखना, या चुपचाप खड़े रहना। 'सिस्टियर (sistere)' की व्युत्पत्ति 'स्टेअर stare' से है जिसका अर्थ है खड़ा होना।

संस्कृत का 'अस्' धातु क्रिया-सामान्य माना जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि ध्वन्यात्मक 'श्वस् से 'वस्' की, और 'वस्' से 'अस् की, उत्पत्ति हुई। यह परिवर्तन मूर्त्त से अमूर्त्त की ओर, अथवा अमूर्त्त से अधिक अमूर्त्त की ओर, हुआ है। संस्कृत भाषा के शब्द 'सत्ता', सत्त्व, और सत्य भाव-वाचक संज्ञाएं हैं, जो 'सत्' से व्युत्पन्न हैं। यद्यपि 'सत्' की ये तीनों व्युत्पत्तियां कभी कभी अर्थ में पर्याय समझी जाती हैं, तथापि 'सत्य' संगति का, सत्त्व भव्य का, एवं 'सत्ता' विद्यमानता का द्योतक है। संस्कृत के वैयाकरणों ने 'सत्' की व्युत्पत्ति 'अस्' से बताई है; किन्तु इस व्युत्पत्ति से हमारी विचार-धारा को कोई सहायता प्राप्त नहीं होती। मेरा मत इस विषय में भिन्न है। मैं समझता हूं कि 'सत्' की व्युत्पत्ति 'अस्' से नहीं हुई है। मेरी समझ में 'सत्' की व्युत्पत्ति एक वाक्य से हुई है; अर्थात् 'स: तत्' से, जो 'स तत्' हो गया। काल पाकर ये दोनों शब्द मिलकर एकरूप को प्राप्त हुए, अर्थात् 'सतत्' को, जो एक ओर तो अकार के आगम से 'सतत' हो गया और दूसरी ओर समान एवं मध्य-अक्षर के अत्यय के कारण 'सत्' हुआ जिसका अर्थ है: विद्यमानता या भाव। मैं यह मानने के लिए अनिच्छक हूं कि 'सत्ता' प्रत्यक्ष अथवा समझ (अंडरस्टेंडिंग) का कोई कटघरा (कैटेगरी) है, क्योंकि इसका रूप सरल नहीं, जटिल है। इसमें श्वास, जीवन, वास, स्थिति, काल, दिक्, सत्ता, निरन्तरता, आवृत्ति, समझ, आविर्भाव, प्रत्यभिज्ञान आदि में से, प्रकरण के अनुसार, दो या अधिक विचारों अथवा अर्थों का मिश्रण है।

बच्चों और साधारण पुरुषों को, ऐसा प्रतीत होता है कि, 'सत्ता' के प्रत्यय की उपलब्धि नहीं होती। जब कभी शिशु चन्द्रमा की ओर निर्देश करते हैं तो वे केवल कहते हैं 'वह'; या जब वे भूखे होते हैं तो वे कहते हैं: 'अम्मा, दूध'। वे 'है' की कल्पना कभी नहीं करते। जब कभी मेरे अमुक मित्र मेरे घर के द्वार पर मेरा नाम पुकारते हैं, तो उनका क्या अभिप्राय होता है? क्या वे मेरे बारे में, या मेरी सत्ता के बारे में, या मेरी सत्ता के विषय में सोचते हैं? मैं समझता हूं कि उत्तर भिन्न हो सकते हैं, किन्तु मुझे पहला विकल्प ही अभिप्रेत है। जब कोई वृद्धिगत बालक यह कहता है कि 'कोट मेरे बक्स में है' (या नहीं है)' तो वह कोट और बक्स के बारे में समावेशक-समाविष्ट सम्बन्ध की स्वीकृति अथवा निषेध पर ध्यान

देता है । क्या कभी वह कोट की सत्ता पर, या बक्स की सत्तापर, अथवा कोट और बक्स के सम्बन्ध की सत्तापर ध्यान देता है ? उक्त उदाहरण में उसका अभिप्राय है कि वह कोट और बक्स के भीतरी भाग को युगपत् देखता है (अथवा नहीं देखता) है । किसी वस्तु की विद्यमानता के समाप्त होने से बालक का अभिप्राय होता है कि यह उद्देश्य-विधेय के उस सम्बन्ध का प्रत्यक्ष नहीं करता जिसको वह पहले कभी किसी विशेष रूप में किया करता था । मुझे विदित हुआ है कि सोसाइटी-टापू के निवासी और विनष्ट 'टसमानी' जैसी आदिम जातियों एव कुछ भाषाओं में भी जातिनाम (क्लास नेम्ज) नहीं होते ।

जिस प्रकार 'वर्ण' के प्रत्यय में तीन प्रधान अथवा सात रंगों और उनके मिश्रणों को जताने वाले विभिन्न रंगों का समावेश होता है ; उसी प्रकार 'सत्ता' भी विभिन्न क्रियाओं के द्योतन करने वाला जाति नाम अथवा साधारण नाम है । शुद्ध 'सत्ता' के सम्बन्ध में यदि आप सोचने लगें तो आप 'विस्तृत दिक्' का ध्यान करने लगेंगे, आप गगन की विशालता को देखने (अथवा उसकी कल्पना करने) लगेंगे; आप अपने 'ग्रीनलॉन' की ओर दृष्टिपात करेंगे, आप जीवन-मृत्यु अथवा विकास-विनाश का ध्यान करने लगेंगे । अथवा आप किसी प्रतिज्ञा के उद्देश्य-विधेय की इदन्ता पर ध्यान देने लगेंगे ।

ऐसा विश्वास करने के लिए कुछ लोग प्रवृत्त हैं कि हम 'सत्' और 'असत्' की परिभाषा में प्रत्यक्ष, कल्पना और विचार करते हैं । वे कहते हैं कि जिस प्रकार हम किसी 'रूप-प्रत्यक्ष' में से दिक् तत्त्व नहीं निकाल सकते, उसी प्रकार हम किसी वस्तु को उसके 'सत्तात्मक अभिप्राय' अर्थात् 'एग्ज़िस्टेंशल इम्पोर्ट' से विहीन नहीं कर सकते । अरस्तु, कॉण्ट और मिल सभी 'सत्ता' को कटघरों (कैटेगरीज) में स्थान देते हैं, यद्यपि उनकी संख्या के सम्बन्ध में वे विभिन्न मत रखते हैं । अरस्तू ने 'द्रव्य' और 'सत्' का तादात्म्य किया है । कॉण्ट 'द्रव्य' और 'सत्ता' को अलग मानते हैं । और मिल द्रव्य का उल्लेख करना पसन्द नहीं करते । यह मत-वैभिन्न्य प्रकट करता है कि 'द्रव्य' और 'सत्ता' का प्रयोग अस्पष्टता से हुआ है ।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि हम परम्परा, प्रथा विचाराभ्यास, तथा भाषा से इतने आग्रस्त हैं कि हम 'सत्ता' के विचार का पिण्ड सरलता से नहीं छुड़ा सकते; अतएव हम उसे कटघरा (कैटेगरी) मान लेते हैं । 'द्रव्य' और 'गुण' के प्रत्यय भी इतने आकर्षक हैं कि हम लघु प्रयत्न-पूर्वक उन्हें दूर नहीं कर सकते । हममें से बहुत

से 'वस्तु' की कल्पना 'द्रव्य' (सब्सटेंस) और 'गुण' (अट्रिब्यूट्स) के आधार पर कर लेते हैं। जिस प्रकार हम रेबड़ी के तिलों को नोंच कर उसके गुड़ को प्रकट कर देते हैं, उसी प्रकार हम किसी वस्तु के 'गुणों' को विलग करके (मनके द्वारा ही सही) 'द्रव्य' को उपस्थित कर देते हैं। यह उपमान (एनेलौजी) मनोरम प्रतीत होता है। किन्तु यदि आप खांड की ठोस गोली को लें और उसके मिठास को (विचार मात्र से) अलग करदें तो आप के पास क्या रह जायगा? यह भी एक उपमान है; किन्तु द्रव्यवादी के लिए कम सुखद है। मुझे द्रव्य-गुण के विवाद में पड़ने की आवश्यकता नहीं। मैं तो केवल इस बात पर आग्रह करना चाहता हूं कि परम्परा, प्रथा, आदत और भाषा हमारे विचारों को, दार्शनिक विचारों को भी, प्रभावित करती रहती है। मुझे बताया गया है कि अरबी भाषा में वर्तमान काल नहीं होता, और न 'है' का कोई पर्याय ही। हिन्दी, उर्दू और तथा-कथित हिन्दुस्तानी 'है' का प्रयोग अत्यन्त अधिकता से करती हैं। 'है', 'हैं', हूं और उनके भूतकालिक रूप वाक्यों में प्रायः अनिवार्यतः उपस्थित रहते हैं। यदि हम भारतीयों से कहा जाय कि हम अपनी आधुनिक बोलियों से 'होना' क्रिया का अनावश्यक प्रयोग कम करदें, तो हम कर्त्तव्य-विमूढ़ से हो जाते हैं। अंग्रेजी भाषा में यह दोष कम है, और संस्कृत जैसी रूपनिष्ठ भाषा में तो और भी कम। एक उदाहरण लीजिए—वह जाता है (हिन्दी) = स गच्छति (संस्कृत) = ही गोज (अंग्रेजी)। यदि कोई यह मानने से हिचकिचाए कि उक्त उदाहरण के संस्कृत और अंग्रेज़ी अनुवादों में "है" तत्त्व का अभाव है, तो कम से कम यह तो उसे स्वीकार्य होगा कि वह तत्त्व पिहित अथवा अध्याहृत है। "अस्" का क्रिया-सामान्य रूप तार्किक भावना (अथवा लॉजिकल एब्स्ट्रेक्शन) है।

जैसा कि कहा जा चुका है, सत्ता हमारी सृष्टि है। वह हमारे भीतर निवास करती है, न कि हम उसमें ही। ऐसा प्रतीत होता है कि यदि कोई व्यक्ति परम तत्त्व अथवा निर्गुण ब्रह्म के विषय में सोचे, तो वह उसे न्याय-पूर्वक न तो सत घोषित कर सकता है न असत्। यदि परम तत्त्व को मनसे अतीत माना-समझा जाय, तो क्या अस्तित्व और-अथवा नास्तित्व का आरोप उस पर किया जा सकता है? क्या निर्गुण को सत्, चित् और आनन्द कहना न्याय संगत होगा? गीता का वचन है: त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् (११.३७)। प्रश्नोपनिषद् की उक्ति है: सदसच्चामृतं च यत् (२.५) यह भाव अन्य अनेक उपनिषदों में उपलब्ध है। ऋग्वेद ने 'सत्' के बन्धुत्व को 'असत्' में ढूंढा है: सतो बन्धुमसति निर्विन्दन् (१०.१२९.४); और

अथर्व वेद ने स्कम्भ में सदसत् का अन्तर्भाव किया है ; असच्च यत्र सच्चान्तं स्कम्भं तं ब्रूहि (१०.७.१०) ब्रह्म अथवा स्कम्भ की बात छोडिए। क्या आप मेरे इस कलम को भी केवल सत् या असत् बता सकते हैं। वह सत् है, असत् भी, और सदसत्परं भी। किसकी सत्ता या असत्ता से मेरा अभिप्राय है ? अपने कलम की से, जो कि व्यक्त पदार्थ है। मेरी समझ से 'सत्' हमारे प्रत्यक्ष अथवा कल्पना के सविकल्प और निर्विकल्प तत्त्वों का मिलन-बिन्दु है; यह वह कड़ी है जो उद्देश्य-विधेय को सम्बद्ध करती है। संस्कृत 'सतत्' के मध्यमाक्षर के अत्यय से 'सत्' की निष्पत्ति है। 'सत्ता' का कार्य और स्वभाव उद्देश्य-विधेय का संयोजन है, किन्तु मैं यह नहीं मानता कि सत्ता प्रत्यक्षमात्र है (esse in percipi) क्योंकि जब कभी मैं कुर्सी का प्रत्यक्ष करता हूं तो मैं उसकी सत्ता का प्रत्यक्ष नहीं करता। प्रत्यक्ष और कल्पना में 'सत्ता' एक तत्त्व हो सकती है ; वह इस रूप में कि मानों वह सविकल्प और निर्विकल्प का मिलन-बिन्दु मात्र है, जिसका आधार प्रत्यक्ष की अपेक्षा अनुमान अधिक है। ॐ तत्सत्।



श्रेय का मार्ग

● डॉ० रामानन्द तिवारी

श्रेय का अर्थ कल्याण अथवा मंगल है। इसकी व्यापक धारणा में मनुष्य जीवन के सभी हित एवं मूल्य समाहित हो जाते हैं। भोजन, स्वास्थ्य, आवास, परिवार, सामाजिक संस्थाएं, ज्ञान, विज्ञान, धर्म, दर्शन, साहित्य, कला, संस्कृति आदि इनमें प्रमुख रूप से गिनाए जा सकते हैं। सुख, शान्ति, सुरक्षा, सम्मान आदि भी श्रेय के रूप हैं। जीवन में मानवीय दृष्टि से जो कुछ भी वांछनीय है, वह सब श्रेय के अन्तर्गत है। मनुष्य-जीवन इसी व्यापक श्रेय की साधना है। इसी श्रेय-साधना से जीवन कृतार्थ होता है।

श्रेय को व्यक्ति और समाज दोनों की दृष्टि से देखा जा सकता है। किन्तु वस्तुतः ये दोनों ही दृष्टियां अन्योन्याश्रित हैं। व्यक्तियों से ही समाज बनता है। समाज के बिना व्यक्ति का अस्तित्व संभव नहीं। जन्म की परम्परा ने एक सहज सूत्र में बांधकर मनुष्य को सामाजिक बना दिया है। व्यक्ति का अपना अस्तित्व और उसकी स्वतन्त्रता एक सीमा तक मानवीय हैं। फिर भी व्यक्ति के अस्तित्व, उसकी स्वतन्त्रता, उसके जीवन आदि सभी को सामाजिक सत्ता के आश्रित मानना होगा। सामाजिक सत्ता के संरक्षण के बिना व्यक्ति के व्यक्तिगत श्रेय सम्पन्न नहीं हो सकते। अतः व्यक्ति को उचित आदर देते हुए भी समाज के आश्रय में ही व्यक्ति के श्रेय को प्रतिष्ठित करना होगा।

समाज मनुष्यों का समूह अथवा संकलन मात्र नहीं; वह एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें व्यक्ति किसी आन्तरिक सम्बन्ध के सूत्र में बंधकर एक महत्तर सत्ता का निर्माण करते हैं। इस सामाजिक व्यवस्था का उद्देश्य व्यक्ति की विशेषता एवं स्वतन्त्रता को नष्ट करना नहीं, वरन् व्यक्ति के अस्तित्व को अधिक सुरक्षित और सम्पन्न बनाना है। किन्तु सामाजिक व्यवस्था और सत्ता का निर्माण व्यक्तियों के सामान्य अंश से ही होता है। व्यक्तिगत स्वार्थ और अहंकार से ऊपर उठकर, व्यक्ति जो भावना, योग, सहयोग आदि सामान्य सामाजिक कोष में अर्पित करते हैं, उन्हीं से समाज के अस्तित्व, उसकी शक्ति और उसकी विभूति का निर्माण होता है।

अहंकार से ऊपर आत्मा की सत्ता है। उस दृष्टि से हम समाज के स्वरूप और उसकी शक्ति को आध्यात्मिक कह सकते हैं। समाज की इसी आध्यात्मिकता में जीवन और इतिहास के समस्त रहस्य छिपे हुए हैं। इन्ही रहस्यों को समझ कर हम अपने समाज के लिए श्रेय का मार्ग बना सकते हैं। श्रेय का अर्थ 'कल्याण' अथवा 'मंगल' है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, जीवन के सभी हितकर तत्त्व उसकी व्यापक परिधि में समाहित हो जाते हैं। इन तत्त्वों एवं मूल्यों की साधना ही जीवन को कृतार्थ बनाती है। श्रेय के इन तत्त्वों को दो वर्गों में बांटा जा सकता है। एक वर्ग के अन्तर्गत भोजन, वस्त्र, धन, सम्पत्ति, भोग आदि हैं, जिन्हें लौकिक मूल्य कहा जा सकता है। दूसरे वर्ग में कला, साहित्य, संस्कृति, धर्म, दर्शन आदि को गिना जा सकता है, जो मुख्यत: आध्यात्मिक मूल्य हैं। एक मध्यम वर्ग की भी कल्पना की जा सकती है, जिसमें सामाजिक व्यवस्था, राष्ट्रीय संगठन, राजनीति आदि को रख सकते हैं। ये न पूर्णत: लौकिक हैं और न पूर्णत: आध्यात्मिक, वरन् इनमें दोनों का सामंजस्य है। प्रत्यक्ष रूप में ये लौकिक प्रतीत होते हैं, किन्तु इनके आधार आध्यात्मिक हैं। भोजन आदि के लौकिक मूल्य प्रखर रूप में व्यक्तिगत होते हैं। उन्हें सामाजिक और आध्यात्मिक अतिशय से अलंकृत किया जा सकता है किन्तु सामान्यत: वे स्वार्थमय रहते हैं। कला, साहित्य आदि के आध्यात्मिक मूल्य अहंकार से ऊपर की भूमि पर ही सम्पन्न होते हैं। स्वार्थ और अहंकार के विकार से उनकी श्रेष्ठ साधना में बाधा होती है। सामाजिक, राष्ट्रिय और राजनीतिक मूल्यों का आधार भी स्वार्थ एवं अहंकार से अतीत एवं आध्यात्मिक होता है। किन्तु इनकी प्रत्यक्ष लौकिकता के कारण इनके सम्बन्ध में भ्रान्ति की सम्भावना बहुत रहती है। यह भ्रान्ति आध्यात्मिक मूल्यों की साधना को भी प्राय: विकृत एवं हीन बना देती है।

विश्व के इतिहास में जो देश और समाज सुरक्षित रहकर श्रेय की सफल साधना कर सके हैं, उनका मूल्य-सम्बन्धी विवेक अभ्रान्त रहा है। भारतवर्ष के समान जो देश न अपने को सुरक्षित रख सके और न आक्रान्त रहने के कारण मूल्यों की समुचित साधना कर सके उनकी असफलता के पीछे अविवेक और भ्रान्ति ही कारण रहे हैं। इस अविवेक का बीज स्वार्थ और अहकार में रहता है। स्वार्थ और अहंकार के कारण लोग लौकिक मूल्यों को पूर्णत: लौकिक समझने लगते हैं तथा उच्चतर मूल्यों में भी स्वार्थ और अहंकार की छाया देखते हैं। भ्रान्ति के कारण उन्हें लौकिक, सामाजिक, राष्ट्रिय और राजनीतिक मूल्यों का वह आध्यात्मिक आधार नहीं दिखाई देता जिसके बिना लौकिक मूल्य भी सुरक्षित नहीं रह सकते।

भारतीय समाज की ऐतिहासिक विडम्बनाओं और वर्तमान प्रवंचनाओं का

मूल उनकी इसी भ्रान्ति में मिलेगा। प्राचीन काल में धर्म का प्रभाव अधिक था। धर्म ही समाज का मुख्य मूल्य था। धर्म के क्षेत्र में स्वार्थ और अहंकार की भ्रान्ति ही धर्म और समाज के लिए घातक रही। धर्म ईश्वर में निष्ठा और उसकी उपासना है। समर्पण और शरणागति उसके सार हैं। समर्पण में अहंकार एवं स्वार्थ का त्याग है। धार्मिक श्रद्धा अहकार से ऊपर उठकर ही संभव होती है। श्रद्धा में स्वार्थ और अहंकार के लिए स्थान नहीं है। समर्पण और श्रद्धा से अहंकार का विलय होने पर शक्ति का उदय होता है। यही शक्ति धर्म और समाज तथा समाज के अन्य मूल्यों की रक्षा करती है। 'धर्मो रक्षति रक्षितः' का सूत्र इसी शक्ति में मिलेगा। इस्लामी समाज में इस समर्पण और श्रद्धा की रक्षाकारिणी शक्ति का उत्तम उदाहरण मिलेगा।

भारत को धार्मिक देश माना जाता है। मन्दिरों, देवताओं, धर्माचारों के रूप में भारत की यह धार्मिकता प्रत्यक्ष दिखाई देती है। किन्तु धर्म के इस प्रकट रूप में समर्पण और श्रद्धा की वैसी शक्ति नहीं रही जैसी इस्लाम धर्म में। हमारा स्वार्थ और अहंकार श्रद्धा से विनमित न हो सका। पुरोहितों की दक्षिणा और भोजन के मोह, तीर्थ-पण्डों के स्वार्थमय दृष्टिकोण, मन्दिरों के नामकरण तथा उनपर लगे निर्माताओं के नाम के शिलालेख, महन्तों के वैभव, उपासकों के दम्भ, स्वार्थी साधुओं की जमात आदि में हमारे स्वार्थ एवं अहंकार का तथा इनके कारण उत्पन्न श्रद्धा के अभाव का नग्न रूप देखा जा सकता है।

स्वार्थ और अहंकार की प्रबलता तथा श्रद्धा के अभाव के कारण भारतीय समाज में वह शक्ति उदित न हो सकी जो धर्म की रक्षा करके धर्म को समाज का रक्षक बनाती। श्रद्धा ही शक्ति का मूल आधार है। श्रद्धा से अहंकारों का विलय होता है तभी व्यापक आत्मा की शक्ति उदित होती है। सामाजिक और राष्ट्रिय दृष्टि से संघटन को शक्ति कहा जाता है। "संघे शक्तिः कलौ युगे" हम इस मन्त्र का जाप करते रहे किन्तु 'संघ' अथवा संघटन के आध्यात्मिक रहस्यको नहीं समझ सके। संघटन एक व्यापक व्यवस्था में व्यक्तियों का आत्मसमर्पण होता है। अहंकार उसका बाधक है। व्यक्तिगत अहंकार के प्रबल रहने पर वास्तविक संघटन नहीं बनता और न उसमें शक्ति ही आती है। श्रद्धा और समर्पण से ही संघटन सशक्त बनता है। हम संघटन के इस आध्यात्मिक रहस्य को न समझ सके और न अपना सके। इस कारण भारत में सशक्त संघटन का सदा अभाव रहा और दुर्बलता के कारण भारत आक्रान्त रहा। हमारा अहंकार, श्रद्धा और संघटन में बाधक रहा।

धर्म के क्षेत्र में अनेक बड़े सम्प्रदाय तथा अनेक सन्तों के पृथक् क्षेत्र एवं मण्डल इस अहंकार के फल एवं प्रमाण हैं। भ्रान्तिवश इन्हें हमारी धार्मिक उदारता का सूचक समझा जाता है। उदारता आध्यात्मिक भाव है। अहंकार और उदारता एकत्र नहीं रह सकते। इन सम्प्रदायों और मण्डलों के प्रवर्तकों तथा संचालकों का अहंकार स्पष्ट है। अतः उदारता की कल्पना केवल भ्रान्ति है। जो उदारता प्रतीत होती है वह जनता की अविवेक-जन्य भ्रान्ति है। इस भ्रान्ति के पीछे भी जनता का धार्मिक अहंकार एवं अज्ञान है।

धर्म के प्राचीन और मध्यकालीन क्षेत्र में अहंकार की इस अश्रद्धा पूर्ण भ्रान्ति का प्रभाव राजनीति के क्षेत्र में हुआ। अंग्रेजों के विरोध और स्वतन्त्रता के बाहरी संग्राम के कारण हम अपनी आधुनिक राजनीति को राष्ट्रिय समझते रहे हैं। किन्तु वस्तुतः यह राजनीति उसी स्वार्थ एवं अहंकार से पीड़ित रही है (और आज भी है) जिससे हमारी धार्मिक श्रद्धा खण्डित रही। महात्मा गान्धी का नेतृत्व हमारी धर्म और राजनीति के सूत्र को मिलाता है। बुद्ध तथा अन्य सन्तों से प्रवंचित देश एक आधुनिक महात्मा के नेतृत्व से प्रभावित हुआ। बुद्ध से गान्धी तक महात्माओं के व्यक्तिगत यश का चकाचौंध इनके अहंकार का अखण्ड प्रमाण है। इस चकाचौंध में राष्ट्र, समाज आदि के सभी मूल्य लुप्त हो गये जो जनता की श्रद्धा एव शक्ति के सूत्र बन सकते हैं। इस चकाचौंध से चकित और भ्रान्त जनता राष्ट्र तथा मूल्यों को भूलकर इनके गीत गाने लगी। नेता और जनता दोनों राष्ट्र एवं समाज के उन मूल्यों को भूली रही जिनकी रक्षा से ही समाज का कल्याण सम्भव है। नेताओं का अहंकार जनता के अहंकार को प्रश्रय देता रहा तथा हमारी राजनीति स्वार्थों और अहंकारों की एक क्रमिक परम्परा बन गई। ग्रामपचों से लेकर मन्त्रियों तक हम इस परम्परा का प्रत्यक्ष रूप देख सकते हैं।

जिस प्रकार स्वार्थ और अहंकार से प्रभावित धर्म हमारा रक्षक न बन सका उसी प्रकार स्वार्थ और अहंकार से पीड़ित राजनीति हमारा कल्याण नहीं कर सकती। राष्ट्र और समाज के श्रेय की साधना के लिए हमें राजनीति और धर्म दोनों के आध्यात्मिक आधार को समझना होगा। राजनीति प्रत्यक्ष रूप में राष्ट्र और समाज के लौकिक मूल्यों की रक्षा तथा उनके संवर्धन का तन्त्र है। किन्तु उसका आधार आध्यात्मिक है। नेताओं की श्रद्धा से समाज को श्रद्धा की प्रेरणा मिलती तथा समाज में शक्ति उदित होती है। इसी शक्ति से वह संघटन बनता है, जो समाज का रक्षक होता है। श्रद्धा ही शक्ति का स्रोत है। श्रद्धा की स्थिति अहंकार से

ऊपर है । कोई भी आश्रय श्रद्धा का अवलम्ब बन सकता है । इस्लाम में यह आश्रय धर्म रहा । धर्म और राजनीति का समन्वय इस्लाम की शक्ति है, जिसके द्वारा इस्लामी समाज ने आधी दुनिया पर आधिपत्य कर लिया और आज वह नई शक्ति के साथ उठ रहा है । राजनीति आधुनिक युग का धर्म है । पश्चिमी समाजों में राष्ट्र ही देवता बन गया है । नेता राष्ट्र के अधिनायक नहीं, उपासक और सेवक हैं । राष्ट्र के प्रति श्रद्धा उनकी शक्ति का सूत्र है । जर्मनी का राष्ट्रगीत उनकी इस अहंकारातीत श्रद्धा का प्रमाण है— Deutscheland Uber all (अर्थात् जर्मनी सर्वोपरि है)। हमारे राष्ट्रगीत में 'जन गण मन अधिनायक भारत भाग्य विधाता' की वन्दना श्रद्धा के अभाव और अहंकार के प्रभाव को सूचित करती है ।

भारत के विडम्बना पूर्ण इतिहास, स्वतन्त्रता के बाद की निरन्तर गिरती हुई स्थिति, भविष्य में विखण्डन की आशंकाएं आदि सभी का कारण भारतीय नेतृत्व एवं समाज में श्रद्धा के अभाव और स्वार्थ एवं अहंकार का प्रभाव है । श्रद्धा, संघटन और शक्ति के अहंकारातीत अध्यात्म को हृदयंगम करके तथा समाज में प्रतिष्ठित करके ही हम भारत को शक्तिशाली एवं सुरक्षित राष्ट्र बना सकते हैं । सशक्त और सुरक्षित राष्ट्र में ही जीवन के लौकिक स्वार्थों की भी रक्षा हो सकती है । स्वार्थ आत्मघाती है, अहंकार अवनति का कारण है । तथा श्रद्धा की अहंकारातीत शक्ति के द्वारा ही संघटन के मार्ग से जीवन के व्यक्तिगत, सामाजिक, राष्ट्रिय आदि सभी प्रकार के हितों एवं मूल्यों की रक्षा हो सकती है । श्रेय के इस मार्ग का निर्माण करके ही हम साधना और उन्नति की दिशा में अग्रसर हो सकते हैं ।

मुस्लिम तथा हिन्दी भाषा के पारस्परिक प्रभाव

कुं० भगवानदास, एम० ए०

हिन्दी भाषा का इतिहास बहुत सी राजनीतिक और सामाजिक क्रान्तियों एवं परिवर्तनों का एक सुन्दर गुलदस्ता है। यद्यपि बाहर से भारतवर्ष सम्पन्न और शक्तिशाली दिखाई देता था, परन्तु उसके अन्तस्तल में अज्ञात रूप से क्षय रोग जड़ पकड़ रहा था। विदेशी आक्रान्ताओं की लोलुप दृष्टि हिन्दी की जन्मभूमि के वैभव पर सदा गीधों की भांति बनी रही। हिन्दी जिस भूभाग में प्रयोग में लाई जाती रही, वह भी देश का हृदय प्रदेश रहा है। यहीं पर सब से अधिक राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक उथल-पुथल ने अपना प्रभुत्व स्थापित किया है। विदेशी आक्रान्ताओं ने यहां केवल लूट-पाट ही को अपना एक मात्र उद्देश्य न रखा बल्कि उन्होंने अपने साम्राज्य विस्तार के साथ-साथ अपनी भाषा के प्रचार और प्रसार का भी प्रयत्न किया। उन्होंने यहां की भाषा, धर्म और संस्कृति तक में विषैले कीटाणुओं का बीजारोपण किया। विजय की मस्ती में चूर होकर उन्होंने उचित और अनुचित का भेद ही बाला-ए-ताक़ रख दिया था।

मुसलमानी भाषाओं फारसी, अरबी, तुर्की और पश्तो ने हिन्दी भाषा को चारों ओर से दबोच लिया। हिन्दी की दशा एक ऐसे पशु के समान थी जिसे अपनी मृत्यु नाचती दिखलाई देती हो। इन भाषाओं के शब्दों को हम दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—

१—विदेशी संस्थाओं, धर्म आदि से संबन्धित शब्द।

२—विदेशी सभ्यता और संस्कृति के प्रचार और वहां की नई नई वस्तुओं के नाम।

फ़ारसी से हम ने लगभग छः हजार शब्द लिए जिन में से ३५०० तो फ़ारसी के अपने हैं तथा लगभग २५०० अरबी के हैं। ये शब्द विषय की दृष्टि से कई प्रकार के हैं। कुछ प्रमुख वर्ग ये हैं :—

धर्म सम्बन्धी :— रोज़ा, मज़हब, दीन, कुरान, हदीस, ख़ुदा, हज, वली, औलिया, सुन्नी, शिया, नबी, पैगम्बर आदि।

शासन सम्बन्धी :— सरकार, तहसीलदार, ज़िलेदार, सूबेदार, सदरआला, चपरासी, वकील, मुख़्तार, माल, मुंशी, ख़ज़ांची, हाकिम, सिपाही, अमीन, अदालत, मुंसिफ़, इजलास आदि।

सेना सम्बन्धी— फ़ौज, जमादार, हौलदार, रिसलदार, हमला, संगीन, कमान, तेग़, तीर, तरकश, सिपहसालार, फ़तह, ज़फ़र आदि।

पोशाक सम्बन्धी :— पाजामा, कमीज़, मोजा, जुराब, दस्ताना, साफ़ा, शलवार, सदरी, मिर्ज़ई आदि।

स्थान सम्बन्धी :— मुहल्ला, परगना, कूचा, शहर, देहात, कस्बा, तहसील, ज़िला, सूबा, महल, इमारत आदि।

पत्र-व्यवहार संबंधी:- ख़त, लिफ़ाफ़ा, पता, हरकारा, डाक, कलमदान, क़लम आदि।

अन्न,फल, मेवा, सब्ज़ी:-गंदुम, जौ, बादाम, अंजीर, सेब, अनार, अंगूर, नाशपाती, आलूचा, बिही, ख़ूबानी, मुनक्का, किशमिश, शहतूत, पिस्ता, शरीफ़ा, पुदीना, शलजम, चुकंदर, तरबूज़, ख़रबूज़ा, कद्दू, कुल्फ़ा, सब्ज़ी, तरकारी आदि।

मिठाई-नमकीन :— बरफ़ी, हलवा, जलेबी, शकरपारा, नमकपारा, कुल्फ़ी, क़लाक़न्द, बालूशाही, गुलाब-जामुन, समोसा आदि।

श्रृंगार सम्बन्धी :— इत्र, सुर्मा, साबुन, हजामत, आईना, शीशा, हिना, आब आदि।

मकान सम्बन्धी :— मकान, बुनियाद, दीवार, दरवाज़ा, दालान, मंज़िल, मियानी, ज़ीना, बरामदा, मेहराब, तहख़ाना, ताक, कुर्सी, तख़्त आदि।

व्यवसायियों के नाम:- बज़ाज़, ज़ीनसाज़, दर्ज़ी, रफ़ूगर, सर्राफ़, साईस, बेलदार, बाग़वान, ज़मींदार, बावर्ची, दलाल, हलवाई, अत्तार, जिल्दसाज़, दफ़्तरी, ज़रबाफ़ आदि।

बीमारी सम्बन्धी :— हकीम, नब्ज़, बुख़ार, बबासीर, बदहज़्मी, हैज़ा, ताउन, लकवा, सूज़ाक, ज़ुकाम, नज़ला, नासूर, जुल्लाब, दवा, मरीज़, मर्ज़, बीमार आदि।

विदेशी शब्द प्रायः संज्ञारूप में आते हैं किन्तु हिन्दी में फ़ारसी से आए शब्द अन्य प्रकार के भी हैं।

विशेषण :— आसान, बेईमान, ईमानदार, बदनाम, बारीक, दिलेर, बेकार, कम, ज्यादा, सख्त, नर्म, गर्म, खुश, परेशान, सादा, तेज़, ज़िन्दा, साफ़, गन्दा, चालाक, बेहतर, नेक आदि।

क्रिया-विशेषण :— अक्सर, आखिर, बेशक, ज़रूर, शायद, तरफ़, बिल्कुल, हमेशा, ज़बरदस्ती, जल्द, कतई, हर्गिज़।

क्रिया :— हिन्दी में बहुत सी धातुएं फारसी से सम्बन्धित हैं :—
खर्चना, तराशना, शर्माना, खरीदना, फ़रमाना, क़बूलना आदि।

समुच्चयबोधक :— अगर, व, बल्कि, कि, वर्ना, लेकिन आदि।

फारसी के माध्यम से हिन्दी में आनेवाले अरबी शब्द :—

शासन-सम्बन्धी :— अदालत, अमीन, बग़ावत, बरी, हिरासत, हाकिम, दफ़ा, मुक़दमा, फ़ैसला, इन्साफ़, वज़ीर, अमीर आदि।

धर्म-सम्बन्धी :— हलाल, हराम, ईद, मोहर्रम, दुआ, शैतान, जिन्न, हज आदि।

चिकित्सा-सम्बन्धी :—बलग़म, दिक़, अर्क, मवाद, नुस्खा, इलाज आदि।

शिक्षा-सम्बन्धी :— किताब, इम्तहान, क़लम, काग़ज़ आदि।

तुर्की—तुर्किस्तान—विशेषत: पूर्वी प्रदेश से भी भारत का सम्बन्ध प्राचीन है। यह सम्बन्ध धर्म, व्यापार तथा राजनीति आदि स्तरों पर था। १००० ई० के पश्चात् तुर्क बादशाहों के राज्य-स्थापन के कारण हिन्दी में तुर्की से बहुत से शब्द आए। डा० चटर्जी, डा० वर्मा तुर्की शब्दों को प्राय: फारसी माध्यम से आया मानते हैं। भारतीय इतिहास के गुलाम, खिलज़ी, तुग़लक़, मुग़ल बादशाह तुर्क ही थे और उनकी सेना में भी पर्याप्त संख्या तुर्कों की थी। हिन्दी में तुर्की के कुल कितने शब्द हैं इस की छान-बीन अभी तक नहीं हुई है। फिर भी तुर्की शब्दों की संख्या १२५ से कम नहीं है जो हिन्दी भाषा में प्रयुक्त होते हैं।

कुछ प्रमुख शब्द इस प्रकार हैं :—

उर्दू, बहादुर, तुर्क, आक़ा, कलग़ी, चाक़ू, कैंची, क़ुली, क़ाबू, खां, खातून, खानुम, ग़लीचा, चकमक, चिक, तमगा, तमंचा, तोप, तोपची, दारोग़ा, बेग, बेगम, चम्मच, मुचलका, लाश, बीबी, चेचक, बाबा, सुराग, हरावल, बारूद, कुर्त्ता, कूच, कमची, कुमक, कुर्क, कोतल, नानखताई, खच्चर, अयाल, सराय, ग़नीमत, चोग़ा, तातार, मुग़ल आदि।

तुर्की से हिन्दी में आए शब्दों में सब से बड़ी संख्या सेना से सम्बन्धित है।

पश्तो :—मध्य युग में अफ़ग़ान काफी संख्या में भारत में आए तथा उनके कई सरदारों ने यहां पर अपना राज्य भी स्थापित किया। हिन्दी में लगभग १०० शब्द पश्तो के हैं, जिन में कुछ प्रमुख ये है :—

पठान, रुहेला, अटेरन, डाकर (कड़ी भूमि), ढांढा (छोटा कूंआं), मटरगश्ती, गुण्डा, अचार, तड़ाक, खर्राटा, तहसनहस, टसमस, जमालगोटा, खचड़ा, अखरोट, चख-चख, पटाखा, डंगर, डांगर, डेरा, गटागट, गुटरगूं, कुकड़ूकूं, गुलगपाड़ा, कलूटा, गड़बड़, गँडेरी, लताड़, लुच्चा, खालिस, निख़ालिस, नगाड़ा, हड़बड़ी, हमजोली, अटकल, बाड़, भड़ास आदि।

ऊपर विभिन्न भाषाओं के वे शब्द दिए गए हैं जो अपने मूलरूप में अथवा थोड़े परिवर्तन के साथ हिन्दी में आए हैं। किन्तु बहुत से शब्द अनुवादित रूप से भी विदेशी भाषाओं से आए हैं जैसे :—

जलवायु (आब-व-हवा), कटिबद्ध (कमरबस्ता)।

हिन्दी भाषा ने विदेशी भाषाओं से शब्द ही ज्यों के त्यों या कुछ उच्चारण बदल कर नहीं लिए, बल्कि हिन्दी शब्द रचना पर भी विदेशी प्रभाव देखा जा सकता है। विदेशी प्रत्ययों और उपसर्गों की सहायता से नए शब्द बनाए हैं। कुछ प्रमुख विदेशी प्रत्यय इस प्रकार हैं :—

आना—सालाना, तवाना, दाना।
अर—गुफ़तार, रफ़्तार, क़ुदार।
अक—ख़ूराक, तैराक, चालाक।
बाज़—धोखेबाज़, चालबाज़, जांबाज़।
वान—गाडीवान, बैलवान, कोचवान।
पन—दुबलापन, लड़कपन, बचपन।
ची—देगची, सन्दूकची, तोपची।
खाना—कारखाना, ड़ाकखाना, छापाखाना।
खोर—शराबखोर, हरामखोर, चुग़लखोर।
दार—चमकदार, पहरेदार, आबदार।
दान—चूहेदान, क़लमदान, पानदान।
रसां—चिट्ठी-रसां, फैज़रसां, मुज़रर्तरसां।

ज़ादा—शाहज़ादा, अमीरज़ादा, रायज़ादा।
गर—सौदागर, ज़रगर, कारीगर।
गार—कामगार, ख़िदमतगार, परवरदिगार।
गढ़—रामगढ़, अलीगढ़, रतनगढ़।
गिरी—क़ुलीगिरी, बाबूगिरी, मुन्शीगिरी।
ला—खटोला, मंझोला, नन्दोला।
मार—चिड़ीमार, यारमार, मक्खीमार।
नाम—बदनाम, नेकनाम, गुमनाम।
नगर—रामनगर, अहमदनगर, मुज़फ़्फ़रनगर।
नी—मोरनी, डोमनी, शेरनी।
वां—आठवां, बारहवां, नवां।
हार—मरणहार, जानहार, होनहार।
हट—चिकनाहट, घबराहट, कड़वाहट।
ई—चोरी, नेकी, बदी।
या—कुतिया, बन्दरिया, लुटिया।
यल—मरयल, सड़यल, पड़यल।

इसी प्रकार विदेशी उपसर्गों की सहायता से भी हिन्दी में नये शब्द बनाए गए हैं—

बा—बाक़ायदा, बावफ़ा, बाज़ाबता।
बे—बेजा, बेअदब, बेहया।
बर—बरामदा, बरतरफ़, बरहक़।
तह—तहख़ाना, तहबन्द, तहनशीन।
ख़र—ख़रगोश, ख़रगाह, ख़रमोहरा।
ख़ुश—ख़ुशबाश, ख़ुशामद, ख़ुशवज़ा।
दर—दरख़ास्त, दरामद, दरयाफ़्त।
दम—दमसाज़, दमबाज़, दमकश।
दिल—दिललगी, दिलचस्पी, दिलकश।
सर—सरख़ुशी, सरगिरोह, सरगना।
शाह—शाहराह, शाहबाज़, शाहंशाह।
ग़ैर—ग़ैरहाज़िर, ग़ैरमोज़ूं, ग़ैरमनक़ूला।

ला—लाइलाज, लावारिस, लाजवाब।
कु—कुराह, कुडोल, कुपूत।
माल—मालदार, मालमस्त, मालपूवा।
नि—निडर, निढाल, निकम्मा।
ना—नावाजिब, नाजायज़, नामुमकिन।
नौ—नौरोज़, नौबहार, नौजवान।
हर—हररोज़, हरकारा, हरदिलअज़ीज़।
हजार—हज़ारदास्तां, हजारपाया, हज़ार साला।
यक—यकचन्द, यकजहती, यक ज़बान।
फ़ाका—फ़ाकामस्ती, फ़ाकाकशी, फ़ाकाज़दा।
सदर—सदरबाज़ार, सदरमुक़ाम, सदर-ए-आज़म।
बद—बदनाम, बदचलन, बदमाश।
फ़ी—फ़ीकस, फ़ीमकान, फ़ीआदमी।
कम—कमज़ोर, कम उम्र, कमगो।

विदेशी शब्द-समूह तथा शब्द-रचना के अतिरिक्त विदेशी ध्वनियों ने भी हिन्दी में स्थान पा लिया है। मुसलमानी सम्पर्क के कारण ही हिन्दी में क़, ख, ग़, ज, फ़, आदि महाप्राण ध्वनियां आई हैं क्योंकि बिना इन के अरबी, फारसी के अनेक शब्दों का शुद्ध उच्चारण हो ही नहीं सकता।

जिस प्रकार हिन्दी साहित्यकारों ने फारसी, अरबी शब्दों का प्रयोग अपनी रचनाओं में किया है, उसी प्रकार कुछ फारसी के प्रसिद्ध कवियों ने भी हिन्दी शब्दों का अपनी फारसी रचनाओं में प्रयोग किया है। उस काल में साहित्यिक क्षेत्र में धर्मांधता का इतना प्राबल्य न था, जैसे कि बाद में हो गया कि दोनों भाषाओं के साधारणत: नित्य प्रयुक्त शब्द भी काम में लाने से लोग हिचकिचाते हैं तथा जानबूझकर उसे निकाल देते हैं। जिस वातावरण में मनुष्य रहता है वहां की भाषा, भाव आदि के प्रभाव से बच नहीं सकता और बिना किसी दृढ़ निश्चय के उस के शिकंजे से बाहर नहीं आ सकता। यही कारण है कि फारसी में लिखते हुए भी इन कवियों ने हिन्दी शब्द प्रयुक्त कर ही दिए हैं क्योंकि ऐसे शब्दों के निराकरण की उस समय तक किसी दलबन्दी के कारण आवश्यकता ही नहीं पड़ी थी। यह सभी भली भांति जानते हैं कि खुसरों फारसी के सुप्रसिद्ध कवि थे। इन्होंने

अपने फारसी के शेरों में हिन्दी शब्दों का कितना सुन्दर प्रयोग किया है यह देखते ही बनता है। —

१. ए देहली वाए बुताने सादः।
पग बस्तः व चीर कज निहादः।।

१. बनिशस्तः चूं दर पालकी नः चर्ख कहुहार आमदः

३. सरे आं दो चश्म गर्दम कि चू हिन्दुआने रहज़न।
हमः रा बनोके मिज़गाँ ज़दः बर बर जिगर कटारः।।

४. पान खुर्दः बमन दादः उगाल आं बुते हिन्दी।
ईं बोसः बः पैग़ाम चे रंगी मज़ः दारद।।

हिन्दी के शब्द फारसी भाषा में एक नया ही रंग और सौंदर्य उत्पन्न कर रहे हैं। कवि ने भी इन शब्दों को ऐसे जड़ दिया है जैसे जौहरी अँगूठी में नगीने को जड़ देता है।

उर्फी फारसी के प्रसिद्ध कवि हैं। इन्होंने भी अपने शेरों में हिन्दी के शब्दों को स्थान दिया है—

१. दर चाश्तगूह अज शबनमे गुल गिर्द फ़र्शा अस्त।
आं बाद कि दर हिन्द अगर आमद जिगर आमद।।

२. सीर गश्तम् जे कचरिए अय्याम।
हबसे सीमोज़र नमी दारम।।

जहूरी के शेरों में भी हिन्दी शब्दों का सौन्दर्य देखिए—

१. शवद चहरए जर्द खुर्शेद आल।
दहंदश अगर नाज़नीनां उगाल।।

२. सिपेहर अज सरअफ़राज़ियश दर हिसाब।
जे चौखंडियश सायः बर आफ्ताब।।

अशरफ़ कहते हैं—

चौखंडिये शिकोहश अगर सायः अफगन्द।
फीले सिपेहर शानः बिदो जद बजेरबार।।

तुग़रा कहते हैं—

शोख-सौसन रा बिगो दिल मीर बायद कश्कः अस्त।
ज़ात रजपूतस्त तरसम दस्त बर जमधर कुनद॥

अबूसईद अलुलखैर कहते हैं—

सज्जादः परहेज चुनां अफ़शानम।
कज हर तारे हज़ार जुन्नार उफ़तद॥

फारसी के कवियों ने हिन्दी के केवल उन्हीं शब्दों को चुना है जो उनके इश्क़ से मेल खाते थे और फारसी के शब्द उन के स्थान पर इतने सुन्दर प्रतीत नहीं होते थे। विजेता होने के नाते उन का ऐसा करना उचित ही दिखलाई पड़ता है। अंग्रेज़ों के चले जाने के पश्चात् भारत में अंग्रेज़ी का राज्य पूरे जोबन पर है। दासता की कड़ियां सरलता पूर्वक नहीं कट जातीं। जन-साधारण की जागृति ही स्वतन्त्रता के बीजों को उत्पन्न करती है।

जब मुसलमान कवियों ने उर्दू में कविता प्रारम्भ की तो उन पर हिन्दी का रंग कितना चढ़ा हुआ था यह उन के कुछ शेरों से प्रकट होता है :—

वली—१६६८–१७७४ ई०

इस रैन अंधेरी में मत भूल पड़ूं तिस सूं।
टुक पांव के बिछुओं की आवाज सुनाती जा॥

मुहम्मद अहसन-अहसन—

तेरे तिल सूं मुझे नित मेंह का सौदा है ऐ जालिम।
अजब नहीं है अगर तू तेल निकसादे मेरे सर सूं॥

सौदा—१७१३–१७८१ ई०

लड़की वह जो लड़कियों में खेले।
न कि लड़कों में जाके दंड पेले॥

कारी रैन डरावनी घर ते होइ निरास।
जंगल में जा सो रहे कोऊ आस न पास॥
कहै हरम सर पीटकर खोकर अपनी लाज।
माटी में तू रल गयो दीन दुखी के लाज॥

इंशा—मृत्यु सन् १८१७ ई०

रानी केतकी की कहानी ठेठ हिन्दी गद्य में लिखी।

१. पौदों ने रंगा के सूए जोड़े पहने।
पांव में सब डालियों ने तोड़े पहने॥

२. छा गई ठंडी सांस झाड़ों में।
पड़ गई कूक सी पहाड़ों में॥

नजीर—मृत्यु सन् १८३० ई०

१. जब चलते-चलते रस्ते में गून तेरी ढल जावेगी।
इक बधिया तेरी मिट्टी पर घास न चरने पावेगी॥

२. क्या गेहूं, चावल, मोट, मटर क्या आग धुआं और अँगारा।
सब ठाठ पड़ा रह जावेगा जब लाद चलेगा बंजारा॥

३. हर मन की होके मोहनी और चित्त लुभावनी।
निकली जहां धुन उसकी वह मीठी लुभावनी॥
सब सुनने वाले कह उठे जै जै हरी हरी।
ऐसी बजाई किशन कन्हैया ने बांसुरी॥

मीर दर्द—मृत्यु सन् १७९९ ई०

अगर तुझको चलना है तो चल साथ मेरे।
यहां कब तलक तू बातें बनाता रहेगा।

मीर तक़ी मीर—

१. इश्क़ बुरा है ख्याल पड़ा है चैन गया आराम गया।
दिल का जाना ठैर गया है सुबह गया या शाम गया॥

२. क्या बूद-व-बाश पूछो हो पूरब के साकिनो!
हम को ग़रीब जान के हँस-हँस पुकार के॥

जौक़—१२०४–१२७१ हिज़री सन्

अब तो घबरा के यह कहते हैं कि मर जाएंगे।
मर के भी चैन न पाया तो किधर जाएंगे॥

ग़ालिब—

कोई उमीद बर नहीं आती।
कोई सूरत नज़र नहीं आती।
आगे आती थी हाल-ए-दिल पै हँसी।
अब किसी बात पर नहीं आती॥
है कुछ ऐसी ही बात जो चुप हूं।
वरन: क्या बात कर नहीं आती॥

इसी काल से हिन्दी उर्दू इतनी फारसी तथा अरबीमय होती चली गई कि वह एक प्रकार से हिन्दी मिश्रित फारसी हो गई और आजकल की उर्दू उसी का एक उदाहरण है। सहृदय मुसलमानों के जब हिन्दी में हार्दिक उद्गार कविता के रूप में निकलने लगे और उनका प्रचार मुसलमानों में होने लगा तब कुछ कठमुल्लाओं में यह धारणा जड़ पकड़ने लगी कि यदि यही क्रम चलता रहा तो शीघ्र ही मुसलमान हिन्दुओं की हिन्दी रचनाएँ मनन करने लगेंगे तथा उनकी संस्कृति इस से प्रभावित होगी। यह सभी जानते हैं कि मुसलमान धर्म के लिए कितने कट्टर रहे हैं, यह प्रत्यक्ष है और यह निश्चय था कि भावुक कवि बिना कुछ कहे रुक नहीं सकता, अत: हिन्दी भाषा होते हुए भी फारसी के छन्द-शास्त्र तथा फारसी की भावना, दृश्य, अन्त: कथा आदि का प्रयोग कर रचना करने की ओर वे कविगण प्रोत्साहित किए जाने लगे और क्रमश: इसका प्रचार बढ़ता ही गया। परन्तु उर्दू धारा की आत्मा हिन्दी ही रही है और रहेगी।

भारत के सम्पर्क में समय-समय पर अरब, ईरानी, पुर्तगाली तथा अंग्रेज आदि आए और इसका परिणाम यह हुआ कि एक ओर तो भारतीय भाषाओं ने इन सभी की भाषाओं (अरबी, फारसी, पुर्तगाली तथा अंग्रेज़ी) के शब्द लिए, तथा दूसरी ओर अरबी, फारसी, पुर्तगाली तथा अंग्रेज़ी आदि ने भी भारतीय भाषाओं से भी अनेकानेक शब्द लिए। फारसी में भारत से लगभग १५० शब्द गए हैं। फारसी के कवियों की भांति मुग़ल सम्राटों ने भी हिन्दी के शब्दों का बहुत प्रयोग किया है। अकबर की बूआ गुलबदन बेगम ने हुमायूं नामा में छपरखट, पहर तथा गवारान हिन्दी शब्दों का प्रयोग किया है। अकबर अपने पुत्र सुल्तान मुराद को सीकरी के पहाड़ी स्थान में पैदा होने के कारण पहाड़ी राजा कहता था। अपनी पुत्री आराम बानू बेगम के विषय में सलीम से कहा कि "लाडल: मन अस्त"। शाहजहां अकबर को शाहबाबा और जहांगीर को शाहभाई कहता था। जहांगीर ने अपनी तोज़क में सौगन्ध शब्द का प्रयोग

किया है। जहांगीर ने शराब का नाम रामरंगी रखा था। शाहजहां ने लालखां को गुणनिधि की पदवी दी थी। औरंगज़ेब ने दो प्रकार के आमों के नाम सुधारस और रसनाविलास रखे थे। हिन्दी के कवियों को कविराय, महापात्र आदि उपाधियां मिली थीं। तात्पर्य यह कि फारसी काल में हिन्दी के शब्द बिना रोक-टोक के प्रयुक्त होते थे।

तबक़ाते नासिरी का लेखक मिनहाजुस्सिराज सन् १२२७ ई० में भारत आया था। उसने अपनी पुस्तक में एक स्थान पर लिखा है कि "हिन्दी भाषा में बिहार का अर्थ मदरसा है।" शरफ़ुद्दीन मज़्दी ज़फ़रनामा सन् १४२४ ई० में लिखा गया था, इस में तैमूरलंग की जीवनी दी हुई है। इस में एक स्थान पर लिखा है कि "राव हिन्दी शब्द है"। ख़फ़ी खां अपने इतिहास ग्रन्थ मुंतख़बुल्लुबाब भाग दो पृष्ठ ७८१ में लिखता है कि "उन्होने देना स्वीकार किया और ज़मानत दी, जिसे हिन्दुस्तान की भाषा में ओल कहते हैं।" यह ओल हिन्दी शब्द है। ख़फ़ी खां ने एक स्थान पर समयवाची हिन्दी शब्द घड़ी का भी प्रयोग किया है। मुआसिरुल उमरा में कई स्थानों पर हिन्दी शब्द प्रयुक्त हुए हैं। यह पुस्तक सन् १७४२–१७४७ ई० के बीच की रचना है। कुछ उदाहरण देखिए :—

१. इस का कुछ अंश हिन्दी में हुआ था।
२. हिन्दी भारतवर्ष की भाषा है।
३. इस कार्य को उचित समझने का कारण हिन्दी रचनाएं थीं।
४. डर गया मुबारिक खाँ।

ऊपर के विवेचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि मुसलमानी भाषाओं ने जहां हिन्दी भाषा को प्रभावित किया है, वहां वे भाषाएं हिन्दी के प्रभाव से भी अछूती नहीं रही हैं, चाहे वह प्रभाव थोड़ी ही मात्रा में क्यों न हो?

'सु-राज्य' की अनिवार्यताएं और आचार्य चाणक्य

● अश्विनी कुमार वर्मा

'अर्थचेतना' और 'दण्ड-चेतना' सुराज्य के लिए ऐसी दो अनिवार्यताएं हैं जिनके अभाव में सम्यक् शासन की कल्पना ही नहीं की जा सकती। राजनीति शास्त्र सम्बन्धी चिंतन के इतिहास की पाश्चात्य और पौर्वात्य दोनों ही धाराएं कहीं न कहीं इन्हीं दो मूल बिंदुओं के चारों ओर चक्कर काटती दीखती हैं। आज राजनीति के आयाम भी गति की तीव्रता के कारण विस्तृत होते चले जा रहे हैं। विश्व के हर देश अथवा राष्ट्र में घटने वाली घटनाओं का अप्रत्यक्ष ही नहीं प्रत्यक्ष प्रभाव भी हमारे राष्ट्र पर पड़ता है।[1] एक ओर बाज़ार की समस्या वैदेशिक अर्थनीति का मुख्य अङ्ग है, तो दूसरी ओर राष्ट्र की सीमाओं और शैक्षिक हितों का सम्बन्ध सीधा विदेशनीति के सभी बिंदुओं को छू लेता है।

अर्थचेतना और भारतीय मनीषी

वैदिक चेताओं ने 'अर्थचेतना' को राष्ट्र का सर्वोपरि अङ्ग मानते हुए श्रीधन को ही राष्ट्र कहा।[2] श्री राष्ट्र का 'मध्य' भाग ही इसी अर्थ में प्रयुक्त हुई।[3] वैश्य को राष्ट्र का समवाची घोषित करने का अर्थ भी यही था। शताधिक वेदमंत्रों में अर्थ को राष्ट्र का मूल घोषित किया गया। वैदिक मान्यताओं की प्रस्थापना के लिए वचनबद्ध अमितौजस ब्राह्मण आचार्य चाणक्य ने मनुवादियों, बृहस्पतिवादियों,

---

1 नेता जी सुभाष चन्द्र बोस ने 'The Indian Struggle' और 'Crossroads' में स्थान-स्थान पर अपना मत अभिव्यक्त किया है कि विश्व की राजनीति का आकलन किए बिना भारत की नीतियों का निर्धारण नहीं किया जा नकता।

2 श्रीर्वैराष्ट्रम्। शतपथ ६।७।३।७।।

3 श्रीर्वैराष्ट्रस्य मध्यमम्। तै० ३।९।७।१।। श० १३।९।२।४।।

4 राष्ट्राणि वै विशः। ऐतरेय ८।२६।।

उशनस्वादियों आदि के मतों को उद्धृत करते हुए अंत में अपनी प्रस्थापना यही दी कि जगत् अर्थ प्रधान है।[5] प्राप्त बार्हस्पत्य सूत्रों की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता के वाग्युद्ध में यदि न उलझा जाए तो बृहस्पति के अर्थ सम्बन्धी सूत्र अत्यधिक विचारोत्तेजक हैं। अर्थोपार्जन करना चाहिए। जिसके पास अर्थराशि नहीं है उसके न मित्र होते हैं, न ही धर्म, न विद्या, न गुण और न ही बुद्धि। अर्थ के बिना अर्थप्राप्ति सम्भव नहीं, जिस प्रकार बिना गज के गज नहीं पकड़ा जा सकता। जगत् धनमूल है। धन में सबकुछ निवास करता है। निर्धन मृत या चाण्डाल के समान हो जाता है।[6]

'निर्धन मृत या चाण्डाल हो जाता है' बृहस्पति का यह वाक्य विचारणीय है। निर्धन व्यक्ति या निर्धन राज्य दोनों की स्थिति एकसी ही हो जाती है। इसी प्रसङ्ग को उठाते हुए आचार्य कौटिल्य भी अपने सूत्रों में कहते हैं कि अर्थवान् सर्वमान्य हो उठता है। अर्थहीन राजा भी लोकपूजित नहीं होता। दारिद्र्य मनुष्य के लिए जीवित मरण तुल्य है। अर्थवान् कुरूप भी सूरूप हो उठता है।[7] 'सर्वारम्भाः हि अर्थमूलाः' राष्ट्र या व्यक्ति की सारी क्रियाए अर्थमूल हैं। अर्थ कितना ही प्रभूत मात्रा में किसी राष्ट्र में एकत्रित क्यों न हो जाए पर यदि राष्ट्र की एक इकाई भी अर्थहीन है तो राष्ट्र में 'चाण्डालत्व' कहीं न कहीं प्रवेश पायेगा ही। इस दृष्टि से बृहस्पति आज भी कार्लमार्क्स के साथ मननीय है।

'चाण्डाल' शब्द की अभिव्यंजना

'चण्डाल' शब्द 'चण्ड् गतौ' धातु से 'पतिचण्डिभ्यामालञ्' आलञ् प्रत्यय या 'प्रज्ञादिभ्योऽण्' अण् के योग से बनता है। हलायुध कोशकार अर्थ करता है 'चण्डति कुप्यति सततमिति' अर्थात् जो निरन्तर कुपित रहे और जिसकी गतियां अति तीव्र हो उठें; जिसे कृत्याकृत्य के विचार का समय ही प्राप्त न हो उसे चाण्डाल कहते हैं। किसी भी राष्ट्र की शान्ति इन निर्धन चाण्डालों के कारण नष्ट हो सकती है। जिसका

---

5 अर्थमूलम् हि जगत्। अर्थशास्त्र।

6 अर्थमर्जयेत् ।६।७।। यस्यार्थराशिरस्ति तस्य मित्राणि धर्मश्च विद्या च गुणविक्रमो च बुद्धिश्च ।६।८।। अर्थेनार्थमर्जयितुं न शक्यते गजोऽगजेनैव ।६।६।। धनमूलं जगत्। ६।१०।। सर्वाणि तत्र सन्ति ।६।११।।निर्धनो मृतश्चण्डालश्च ।६।१२।। बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र (सूत्राणि)—प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास सन् १६२४।

7 अमरवदर्थजातमर्जयेत्। अर्थवान् सर्वलोकस्य बहुमतः। महेन्द्रमप्यर्थहीनं न बहुमन्यते लोकः। दारिद्र्यं खलु पुरुषस्य जीवितं मरणम्। विरूपोऽर्थवान् सुरूपः ।२५४–२५८। चा० सू० (अर्थशास्त्र)।

उत्तरदायित्व उन पर नहीं है, अपितु राष्ट्र की उस अर्थव्यवस्था पर है, जिसमें इस प्रकार के चाण्डाल चक्रवर्ती ब्याज की तरह बढ़ते रहते हैं। बृहस्पति और कौटिल्य के इस संकेत की विशद व्याख्या ही 'कार्ल मार्क्स' का विश्वप्रख्यात ग्रंथ 'डस कैपिटल' है जो सारी कम्यूनिस्ट (साम्यवादी) विचारधारा का मूलाधार है जिसका प्रत्याख्यान मात्र अभिघोषों से नहीं किया जा सकता। निर्धन का 'चण्डालत्व' अपने में एक सनातन सत्य है जिसे उसी रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। उसे 'दरिद्र नारायण'[8] की दार्शनिक जैसी भाषा में फँसाना मात्र वाग्जाल है। आज की परिस्थितियों में ऐसे वाग्जाल 'नक्सली आन्दोलन' के सत्य को ही सिद्ध करेंगे अन्य कुछ नहीं। और 'नक्सली आन्दोलन' अपने चाण्डालत्व की आग से सारे राष्ट्र को घेर लेने के लिए आतुर है।

उत्तरदायी कौन ?

इस प्रश्न का उत्तर भारतीय राजनीति के स्वतंत्रता पूर्व आन्दोलन में खोजना होगा ? यदि १९३८-४० के सुभाष-गांधी विवाद का अध्ययन किया जाए तो प्रतीत होता है सुभाष बाबू निर्धन के चाण्डालत्व की इसी विभीषिका का पूर्वानुमान लगाते हुए कांग्रेस को वाममंथ की ओर मोड़ना चाहते थे। सुभाष बाबू की वामपंथिता निश्चितरूप से साम्यवादी वामपंथिता या नक्सली वामपंथिता नहीं थी। उनकी वामपंथिता निश्चितरूप से गांधी के 'स्व-चिंतन' व्यामोह' के विरुद्ध एक विद्रोह था। वे जानते थे 'अर्थस्य मूलं राज्यम्,'[9] और 'धर्मस्य मूलं अर्थः'[10] के मध्य समन्वय तभी हो सकता है जब राज्य अपना हो। 'राज्यतन्त्रायत्तं नीतिशास्त्रम्'[11] के अनुसार नैतिकता और धर्म स्थापना के हेतु 'स्वतन्त्रता' अनिवार्य है। स्वतन्त्रता की रक्षा सुदृढ अर्थ व्यवस्था के बिना हो सकती नहीं। वर्तमान युग की अर्थ व्यवस्था उद्योग प्रधान है। अतः लघु उद्योगों के साथ घनी कृषि (Intensive farming) का होना आवश्यक है। घनी कृषि के कारण रिक्त श्रमिक को कार्य मिलना चाहिए इसके

---

8 देखिए फरवरी के पाञ्चजन्य का 'दरिद्र नारायण' अङ्क। 'दरिद्र नारायण का यह पौराणिक प्रयोग राजनीति में सर्वप्रथम महात्मा गांधी ने 'हरिजन' के अङ्कों में किया था। (तथ्यात्मक भाषा का प्रयोग न कर आलङ्कारिक और दर्शनाभासी भाषा का प्रयोग गांधीजी की निजी विशेषता थी। संघ और जनसंघ गांधीजी की इस भाषाशैली से अत्यधिक प्रभावित रहे हैं।)

9 अर्थशास्त्र (सूत्राणि) ३ शामशास्त्री संस्करण।

10 वही सूत्र सं० २।

11 वही सूत्र सं० ४३।

लिए बृहद् उद्योगों की प्रस्थापना आवश्यक है। बृहद् उद्योगों के साथ ही देश की सुदृढ़ रक्षा-व्यवस्था का और विदेशी बाज़ार का सम्बन्ध हैं। इस सब के लिए अंतर्राष्ट्रीय विप्लव में फंसे शत्रु (ब्रिटिश साम्राज्य) पर जहां वे भरपूर चोट करना चाहते थे वहां गांधी अफलातूनी (प्लैटोनिक) आदर्श व्यवस्था के निर्माण की चिंता में युद्ध न छेड़ने के लिए अड़े हुए थे। वे अपने ही अनुयायियों की भ्रष्ट गतिविधियों से खिन्न थे और उन्हीं के साहाय्य से सुभाषबाबू से लड़ना चाहते थे। देश की 'स्वतन्त्रता' और 'दरिद्र नारायण' (चाण्डाल निर्धन) के ऊपर 'चर्खा' 'सत्याग्रह' 'अहिंसा (तात्कालिक अर्थों में राज्य-अ-विरोध) का उनके लिए अधिक महत्त्व था। बृहस्पति के अर्थों में बङ्गाल तब भी 'निर्धन चण्डालत्व' के पाश में था। उससे मुक्त होने के लिए उसे 'स्वतन्त्रता' की तीव्र लालसा थी। सुभाष बाबू बङ्गाल और पूरे देश के इस नग्न सत्य को स्वीकार करते हुए ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध भीषण युद्ध छेड़ना चहाते थे। बङ्गाल सन्नद्ध था। गांधी के नेतृत्व में शेष सारे देश की जनता 'निर्धनो मृतश्चण्डालश्च' के पूर्वांश 'निर्धनो मृत:' का उदाहरण पेश कर रही थी। एक बार फिर तथ्यवादी वैदिक चिंतन और निर्वीय जैन एवं बौद्ध चिंतन के मध्य देश फंस गया। आज बङ्गाल प्रतीक्षा करते करते फिर 'चण्डालत्व' की ओर झुक गया है। उसके लिए कोई दूसरा उपाय भी नहीं है।

दण्ड-चेतना

दण्ड-चेतना शब्द मैंने यहां व्यापक अर्थ में लिया है। मेरी अपनी मान्यता है कि 'मन्त्र-चेतना' (Policies) कितनी ही सशक्त क्यों न हो; पर यदि किसी राष्ट्र ने अपनी 'दण्ड-व्यवस्था' ठीक नहीं रखी है तो 'मन्त्र-चेतना' निश्चित रूप से बिखर जाएगी। भारतीय आचार्यों ने प्रशासन के लिए 'दण्ड-व्यवस्था' और राजनीति के लिए 'दण्ड-नीति' संभवत: इसी कारण प्रयोग किए थे। कभी 'दण्डनीति' सर्वप्रधान विद्या भी मानी गयी।[12]

अर्थशास्त्रकार ने 'दण्डनीति' की अर्थवत्ता बताते समय एक बात कही कि किसी राष्ट्र में चिंतन (आन्वीक्षकी), त्रयी अर्थात् वेद (ज्ञान) और वार्ता के योगक्षेम

---

12 देखिए अर्थशास्त्र का 'विद्यासमुद्देश' पृष्ठ ६ शामशास्त्री प्रथम संस्करण दण्डनीतिरेका विद्येत्यौशनसा:—तस्यां हि सर्वविद्यारम्भा: प्रतिबद्धा इति।
आन्वीक्षकीत्रयीवार्तानां योगक्षेमसाधनो दण्ड:। तस्य नीतिर्दण्डनीति:,अलब्धलाभार्था, लब्धपरिरक्षणी, रक्षितविवर्धनी, वृद्धस्य तीर्थेषु प्रतिपादनी च। ······तस्यामायत्ता लोकयात्रा। तस्माल्लोकयात्रार्थी नित्यमुद्यतदण्डस्स्यात्। न ह्येवंविधं वशोपनयनमस्ति भूतानां यथा दण्ड इत्याचार्या: ॥

के लिए 'दण्ड' अपरिहार्य है। दण्ड से अप्राप्त की प्राप्ति, प्राप्त का परिरक्षण, रक्षित की बढ़ोतरी (विवर्धन) और वृद्ध (बढ़े हुए का) का तीर्थों [13] में अर्थात् उपयुक्त और योग्य व्यक्तियों में वितीर्णन आदि क्रियाएं सिद्ध होती हैं। सम्पूर्ण लोकयात्रा (the going of the world) इन क्रियाओं में अभिव्यक्त हो उठती है। शासन का 'समुद्दिष्ट' बहुत कुछ इतना ही है। 'शासनप्रिया हि राजानः' शासन प्रिय राजाओं के लिए उद्यतदण्ड होना अत्यावश्यक है।

यहीं सारी आर्थिक प्रक्रियाओं के लिए अर्थशास्त्रकार ने 'वार्ता' शब्द का प्रयोग करते हुए कहा कि 'वार्ता' (Good economy) के माध्यम से और कोश-दण्ड की सहायता से राजा स्वपक्ष (देश) और परपक्ष (विदेश) को वश में कर लेता है।[14] 'कोशदण्डाभ्याम्' समस्त पद के माध्यम से राज्य की अनिवार्यताओं की ओर आचार्य चाणक्य सीधा सङ्केत कर गए। आज अंग्रेजी भाषा में Treasury Benches जो मंत्रियों के लिए प्रयुक्त होता है उसके पीछे चाणक्य के 'कोशदण्डाभ्याम्' पद का 'कोश' पदार्थ ही नियामक चिंतन-विंदु है।

कोश के साथ संयुत 'दण्ड' पद बता रहा है कि राज्य के 'कोश' का संवर्धन भी बिना 'दण्ड' के नहीं हो सकता। दण्ड से संपदा की प्राप्ति होती है [15] ऐसा एक स्थान पर आचार्य चाणक्य ने स्पष्ट किया है। 'दण्ड' की इस व्यापकता पर थोड़ा विचार किया जाना चाहिए।

किसी भी शासन का प्रथम करणीय है अपनी प्रजा (Subjects) का आंतरिक और बाह्य शत्रुओं से परिरक्षण। 'दण्डनीति' के सम्यक् पालन से ही प्रजा की रक्षा हो सकती है।[16] और शत्रु भी 'दण्डनीति' से ही वश में किया जा सकता है।[17] इस

---

13 तीर्थ का शामशास्त्री उपयुक्त या योग्य अर्थ करते हैं। तीर्थ का एक अर्थ समुचित कार्य (Channels) भी हो सकता है। 'प्रतिपादन' क्रिया उस अर्थ की ओर संकेत करती है।

14 तया स्वपक्षं परपक्षं च वशीकरोति कोशदण्डाभ्याम्। अर्थशास्त्र चतुर्थाध्याय।

15 'दण्डस्संपदा योजयति'—चाणक्यसूत्राणि—अर्थशास्त्र (८०) पृ० ४३६। शामशास्त्री संस्करण।

16 दण्डनीतिमधितिष्ठन् प्रजास्संरक्षति—चा० सू० ७६ अर्थशास्त्र शा० शा० सं० पृ० ४३६।

17 अमित्रो दण्डनीत्यामायत्तः—चा० सू० ७८ (वही)।

सारी स्थिति का ग्राकलन करते हुए ही 'ग्रर्थशास्त्र' के उद्धारक प्रो० शामशास्त्री ग्रपने ग्रनुवाद की टिप्पणी में लिखते हैं कि ग्रर्थशास्त्र में दण्ड राजसत्ता (Scepter), दण्ड (Punishment) ग्रौर सेना (army) इन तीन ग्रर्थों में प्रयुक्त हुग्रा है।[18]

दण्ण-चेतना ग्रौर मन्त्रगुप्ति

'दण्ड-नीति' का प्रमुख ग्रर्थ है 'राजसत्ता' का वह भय जो व्यवस्था विरोधी को किसी प्रकार की ग्रव्यवस्था फैलाने से रोकता है। व्यवस्था का मूल सम्बन्ध है राष्ट्र की निर्धारित नीतियों के कार्यान्वयन से। नीति या मन्त्र के बिना राज्य की गति ही ग्रवरुद्ध सी हो जाती है।[19] ग्रौर मन्त्र या नीति की यदि रक्षा नहीं हुई तो कार्यसिद्धि नहीं हो सकती।[20] सब ग्रोर से मंत्र की रक्षा होनी ही चाहिए।[21] मन्त्रगुप्ति के लिए ग्रावश्यक है 'दण्ड' की वर्चस्विता का भाव पूरे राष्ट्र में व्याप्त हो। मन्त्र के धारक मन्त्री भी 'दण्डाधीन' हों। वे जानते हों 'मन्त्र' एक संपदा है[22] ग्रौर एक ऐसी संपदा है जिसके प्रकाशन का ग्रर्थ होता है राष्ट्र का विनाश। मन्त्र-प्रकाशन पर मंत्री भी बुरी तरह राजा के हाथों दण्डित हो सकता है। जहां दण्ड नहीं होता वहां सुयोग्य मन्त्रियों का ग्रभाव हो जाता है।[23] राजा या प्रधान शासक की स्वयं की ग्रपनी रक्षा 'दण्ड-नीति' की दक्ष चालना में निहित है।[24] प्रशासक की ग्रात्मरक्षा में राष्ट्र की रक्षा भी निहित है।[25]

किसी राष्ट्र की प्रशासन-क्षमता मूलतः उसके राज-कर्मचारी वर्ग पर निर्भर करती है। यदि वह वर्ग जानता है कि राज-कर्मचारी होने मात्र से वह 'दण्ड बाह्य' नहीं है तो वह ग्रनुशासित रहता है, ग्रन्यथा वही ग्रव्यवस्था का कारण बन जाता है। दूसरी मुख्य बात यह है कि राजसत्ता (दण्ड) की ग्रभिव्यक्ति इसी वर्ग के

---

18 शामशास्त्री का ग्रर्थशास्त्र का ग्रंग्रेजी ग्रनुवाद का पादटिप्पण पृ० ८।

19 मन्त्रमूलास्सर्वारम्भाः वही २२ पृ० ४३४।

20 मन्त्ररक्षणे कार्य सिद्धिर्भवति। वही २३ पृ० ४३४।
मन्त्रविस्रावी कार्यं नाशयति। वही २४ पृ० ४३४।

21 सर्वद्वारेभ्यो मन्त्रो रक्षितव्यः। वही २६ पृ० ४३४।

22 मन्त्रसंपदा राज्यं वर्धते। वही २७ पृ० ४३४।

23 दण्डाभावे मन्त्रिवर्गाभावः। वही ८१ पृ० ४३६।

24 दण्डनीत्यामायत्तमात्मरक्षणम्। वही ८३ पृ० ४३६।

25 ग्रात्मनि रक्षिते सर्वं रक्षितं भवति। वही ८४ पृ० ४३६।

माध्यम से होती है।[26] 'दण्ड' का कितना और कहां प्रयोग करना चाहिए इसका उसे विशेष ज्ञान होना चाहिए। प्रशासन 'दण्ड-नीति' का अर्थ ही यह है कि प्रशासक अपने विषय से पूर्णतया अवगत हो। प्रशासकीय नीतियां तभी फलवती हो सकती हैं।[27]

दण्ड का समुचित प्रयोग

'दण्ड' की अपरिहार्यता पर बल देते हुए आचार्य चाणक्य 'दण्डाधिक्य' से उठ खड़े होने वाले विप्लव की ओर बहुत सावधान दीखते हैं। वह बार-बार कहते हैं कि प्रशासकों को 'तीक्ष्ण दण्ड' से बचना चाहिए।[27*] जहां मृदु दण्ड इच्छित फल नहीं दिखाता, वहां तीक्ष्ण-दण्ड प्रजा को उद्विग्न कर देता है। और 'दण्ड' यदि प्रयोग में नहीं आएगा, मात्र कागज़ी रहेगा तो बलवान् दुर्बलों को पीड़ित करेंगे। 'दण्ड' सुचारू रूप से कार्य करता है इस बात को देखने वाले अधिकारियों का होना आवश्यक है। अन्यथा अबल लोग अन्यायी के प्रति अपनी आवाज़ भी नहीं उठा पाएंगे। अधिकारियों को यह भी ज्ञात होना चाहिए कि 'दण्ड' पूर्व ही प्रकट हो जाने पर अपनी अर्थवत्ता खो बैठता है।[28] दण्ड-विधान के गुप्त रहने पर और बने रहने पर राज्य में 'अकार्य' नहीं होते,[29] व्यवस्थाएं बनी रहती हैं।

राजा और मन्त्रिमण्डल

'कोश' और 'दण्ड' इन दो अनिवार्यताओं के साथ राज्य की अन्य मुख्यतम आवश्यकता है 'राजा'। राजा का अर्थ है प्रमुख शासक। राज्यतन्त्र और जनतन्त्र

---

26 दण्डे प्रतीयते वृत्तिः। वही ८६ पृ० ४३७।
　वृत्तिः=राजकीय सेवा (Services)।

27 दण्डो हि विज्ञाने प्रणीयते। वही ८६ पृ ४३६।

27* दण्डपारुष्यात्सर्वजनद्वेष्योभवति। चा० सू० ७६ वही ४३६।
　तीक्ष्णदण्डस्सर्वैरुद्वेजनीयो भवति। चा० सू० वही ४३९।
　यथार्हदण्डकारी स्यात्। चा० सू० १४४ वही ४३९।

28 तीक्ष्णदण्डो हि भूतानामुद्वेजनीयः। मृदुदण्डः परिभूयते। यथार्हदण्डः पूज्यः। सुविज्ञातप्रणीतो हि दण्डः प्रजा धर्मार्थकामैर्योजयति। दुष्प्रणीतः कामक्रोधाभ्याम-ज्ञानाद्वानप्रस्थपरिव्राजकानपि कोपयति, किमङ्ग पुनर्ग्रहस्थान्? अप्रणीतो हि मात्स्यन्यायमुद्भावयति। बलीयानबलं हि ग्रसते दण्डधराभावे। तेन गुप्तः प्रभवतीति। अर्थशास्त्र चतुर्थाध्यायः शा० शा० सं० पृ० ९।

29 न दण्डादकार्याणि कुर्वन्ति। ८२ चा० सू० अर्थशास्त्र पृ० ४३६ शा० शा० सं०।

दोनों में ही 'मन्त्रिमण्डल' के निर्माण का अधिकार है 'प्रमुख शासक' को। 'मन्त्र' (Policies) का नियतन प्रमुख शासक और 'मन्त्रिवर्ग' के द्वारा ही होना होता है। मन्त्र के धारक यदि विभ्रष्ट हो गए तो जहां एक ओर 'मन्त्र विधान' दूषित होगा, वहां दूसरी ओर मन्त्रगुप्ति भी सम्भव नहीं। मन्त्रगुप्ति के अभाव में कल्पना कीजिए जरा राज्य-कोश के प्रभावित होने के विषय में। राज्याधान (Taxes) की चोरी हर शासन के लिए सदा ही एक गम्भीर समस्या बनी रहती है।

प्रशासक के अपेक्षित गुण

सुख का मूल धर्म,[30] धर्म का मूल अर्थ,[31] अर्थ का मूल राज्य[32] और राज्य का मूल 'इन्द्रियजय' है।[33] अर्थात् राजा का 'इन्द्रियजयी' होना परमावश्यक है। 'इन्द्रियजय' का मूल विनय और विनय का मूल वृद्धोपसेवा है। वृद्ध, संपूजित आचार्यों से ही विज्ञान प्राप्त हो सकता है। जीवन के शाश्वत सत्यों का विशेष ज्ञान प्राप्त हो सकता है। जिनके अभाव में आत्मा=Personality का संपादन=विकास असम्भव है। उसके सम्यक् विकास के अभाव में 'जितात्मा' होना सम्भव नहीं। जितात्मा व्यक्ति ही सफल होता है, दूसरा नहीं।[34]

'विनयमूलो दण्डः प्राणभृतां योगक्षेमवहः'[35] जो शासन विनयमूल है वही प्राणियों के योग-क्षेम का वाहक हो सकता है, अन्य नहीं। राजा में विनय बिना इन्द्रियजय के सम्भव नहीं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मान आदि हर्ष मद के सयम से ही इन्द्रियजय सम्भव है।[36] आचार्य चाणक्य कहते हैं कि यह 'अरिषड्वर्ग' राजा का भयङ्कर शत्रु है। इससे निष्कृति पाने के हेतु वृद्धाचार्यों के सत्संग से बुद्धि का शोधन,

---

30 सुखस्य मूलं धर्मः। चा० सू० १ अर्थशास्त्र पृ० ४३४ शा० शा० सं०।

31 धर्मस्य मूलमर्थः। चा० सू० २ वही।

32 अर्थस्य मूलं राज्यम्। चा० सू० ३ वही।

33 राज्यमूलमिन्द्रियजयः। चा० सू० ४ वही।

34 इन्द्रियजयस्य मूलं विनयः। विनयस्य मूलं वृद्धोपसेवा। वृद्धसेवाया विज्ञानम्। विज्ञानेनात्मानं संपादयेत्। संपादितात्मा जितात्मा भवति। जितात्मा सर्वार्थैस्संयुज्यते। चा० सू० ५–१० वही।

35 वृद्धसंयोग—अर्थशास्त्र पृ १० शा० शा० सं०।

36 विद्याविनयहेतुरिन्द्रियजयः कामक्रोधलोभमानमदहर्षत्यागात्कार्य :। इन्द्रियजय—अर्थशास्त्र पृ० ११।

चरों के साहाय्य से 'दृष्टि' (पूरे राष्ट्र की गतिविधियो का ज्ञान) की प्राप्ति, नित्य जागरूक और कर्तृत्वशाली होने से राष्ट्र के योगक्षेम का साधन, प्रजाओं के कार्यों पर नियन्त्रण रखने से स्वधर्मस्थापना (हरेक का अपने योग्य कार्यो में लगे रहना), नित्य ज्ञानवृद्धि से स्वानुशासन 'विनय' और राष्ट्र के अर्थतन्त्र की पुष्टि से लोकप्रियता आदि की प्राप्ति आवश्यक है। ऐसा आचरण करता हुआ राजा ही राज्य-हित की रक्षा कर सकता है।[37]

पर क्या राजा अकेले ही 'राज्य-रथ' को चला सकता है? 'नैकं चक्रं परिभ्रमयति'[38] नहीं, राज्य-चक्र अकेले से प्रचालित नहीं होगा। अर्थशास्त्र में आचार्य विष्णुगुप्त स्पष्ट रूप से कहते हैं—

सहायसाध्यं राजत्वं चक्रमेकं न वर्तते।
कुर्वीत सचिवांस्तस्मात्तेषां च शृणुयान्मतम् ॥[39]

राजत्व (शासन) सहायकों की अपेक्षा रखता है। राज्यचक्र अकेले नहीं चलता। राजा सचिवों का चुनाव करे और उनके मत को सुने।

मन्त्रियों के अपेक्षित गुण

सचिव जानपद हों, अभिजात 'कुलीन हों', प्रभावी हों, कलाओं का उन्हें ज्ञान हो (कृतशिल्पः) दूरदर्शी और सूक्ष्मदर्शी हों (चक्षुष्मान्), प्राज्ञ (बुद्धिमान्) हों, स्मृतिवान् हों (धारयिष्णुः), दक्ष (चतुर) हों वाग्मी (बोलने में चतुर) हों, प्रगल्भी हों, प्रतिपत्तिमान् (स्थिति का एकदम भान कर लेने वाले) हों, उत्साही और प्रभावयुक्त हों, दुःख सहने में समर्थ, पवित्र, मैत्रीभावना से पूर्ण, दृढ़भक्ति, शील, बल और आरोग्य वाले, जड़ता और चापल्य दोषों से मुक्त और वैरभाव न रखने वाले हों।[40]

---

37 तस्मादरिषड्वर्गत्यागेनेन्द्रियजयं कुर्वीत। वृद्धसंयोगेन प्रज्ञां, चारेण चक्षुः, उत्थानेन योगक्षेमसाधनं, कार्यानुशासनेन स्वधर्मस्थापनं, विनयं विद्योपदेशेन, लोकप्रियत्वमर्थसंयोगेन, हितेन वृत्तिम्। अर्थशास्त्र पृ० १२ शा० शा० सं०।

38 चा० सू० १७ पृ० ४३३।

39 अर्थशास्त्र शा० शा० सं० पृ० १३।

40 जानपदोऽभिजातः स्ववग्रहः कृतशिल्पश्चक्षुष्मान् प्राज्ञोधारयिष्णुर्दक्षो वाग्मी प्रगल्भः प्रतिपत्तिमानुत्साहप्रभावयुक्तः क्लेशसहश्शुचिर्मैत्री दृढ़भक्तिश्शीलबलारोग्यसत्त्वसंयुक्तः स्तम्भचापल्यवर्जितस्संप्रियो वैराणामकर्तेत्यमात्यसंपत्। अर्थशास्त्र पृ० १५ शा० शा० सं०।

आचार्य चाणक्य भली प्रकार जानते थे कि ऐसे लोगों का चयन कितना कष्टसाध्य है। इसी कारण एक बार चुन लेने पर अनेकानेक प्रलोभनों के द्वारा उनकी परीक्षा का भी विधान उनके अर्थशास्त्र में है। अन्ततः इतनी कठोर परीक्षा क्यों ? उत्तर सीधा है मन्त्र = Policies की रक्षा के लिए।

उच्छिद्येत मन्त्रभेदी

मन्त्रभेदी अमात्य को तुरन्त मन्त्रिमण्डल से हटा दे। अविनीत को स्नेहमात्र के कारण मन्त्रिमण्डल में न ले।[41] और कोई कितना ही विद्वान् क्यों न हो उसके शेष गुणों की परीक्षा लिए बिना भी उसे मन्त्रिमण्डल में न ले।[42]

अपराधपुरुस्कारिणी राजनीति

यदि गत २२ वर्षों में कार्य कर रहे मन्त्रिमण्डलों का आकलन किया जाए तो प्रतीत होगा कि इन शाश्वत सिद्धांतों की जानबूझकर अवहेलना की गई। या फिर पूरे राष्ट्र के साथ घात करने के लिए जो तन्त्र अपनाया गया था उसकी अपनी विवशता भी थी। जनतन्त्र में राजनीति प्रायः 'अपराधपुरुस्कारिणी' हो जाती है। परिवर्तन के लिए लालायित राष्ट्र यदि आज दक्षिणपंथी भी हुआ तब भी कोई विशेष परिवर्तन नहीं आएगा। वामपंथी पार्टियों के साथ-साथ तथाकथित राष्ट्रवादी पार्टियां भी 'अपराधियों' को सांसद बनाने जा रही हैं। चरित्र-निर्माण और व्यक्ति-निर्माण के शाश्वत कार्य की बागडोर जिनके हाथों में है ऐसे पावन-चरित्र नेताओं का वरदहस्त उन प्रत्याशियों के ऊपर है। राजनीति कितनी 'विनयाभिमुख' होगी ईश्वर ही जानता होगा। देश का भविष्य 'अपराधपुरुस्कारिणी राजनीति' और 'अपराधप्रतिरोधिनी' शक्तियों के महासंघर्ष के परिणाम पर ही निर्भर करेगा।

---

41 अविनीतं स्नेहमात्रेण न मन्त्रे कुर्वीत। चा० सू० २० वही ४६४।

42 श्रुतवन्तमुपधाशुद्धं मन्त्रिणं कुर्वीत। चा० सू० २१ वही ४३४।

आधुनिक संदर्भ में प्रजातन्त्र और साम्यवाद के हारते हुए मोहरे

● भुवनेश चतुर्वेदी

'दिनरात' पत्र के तत्वावधान में आयोजित प्रजातन्त्र एवं साम्यवाद पर आधुनिक संदर्भ में विचार सचमुच कल्याणकारी होगा, ऐसा मैं मानता हूं। हम देखते हैं कि आज अपने देश में ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण विश्व में जनमानस पर शासन की ये दो व्यवस्थाएं योरुप तथा अमेरिका से निकलकर छा गई हैं। इसमें कोई अचरज की बात नहीं क्योंकि पिछली एक शताब्दी से अधिक से विश्व में योरुप का जो बोलबाला रहा तथा उन्होंने जो योजनाबद्ध सांस्कृतिक अभियान रचा उसमें यह होना ही था, विशेषतया इसलिए कि विश्व को सांस्कृतिक दृष्टि से प्रकाशित रखने वाले भारत देश का सूर्य भी तो इन दिनों राहुग्रस्त रहा। तो स्थिति यह है कि सम्पूर्ण विश्व को आज जिन दो विभिन्न धाराओं से धकियाया जाकर हम त्रस्त रख रहे हैं उनमें से एक तो दुनिया की आंखों में धूल झोंककर सच को झूठ और झूठ को सच बनाकर समझा देने की अपनी क्षमता से चकित कर देने वाले अन्तर्राष्ट्रिय कम्यूनिज्म के वह खयालात हैं जो अपने दिल लुभा लेने वाले शब्द-जाल से सर्व-साधारण को और विशेषतः मोटी बुद्धि वाले उन लोगों को, जिनकी संख्या कम नहीं, शीघ्र ही लुभाकर अन्त में उनका लोक-परलोक सभी भ्रष्ट कर देते हैं। दूसरी है पश्चिमी भौतिकवाद की धारा जिसका एक प्रबल पक्ष है यह तथाकथित 'प्रजातन्त्र' जिसमें न्याय तथा प्रजा की भलाई के अतिरिक्त जो कुछ भी हो उसे हम नहीं जानते। अमेरिका तथा इंगलैण्ड के उदाहरण इसके बारे में दिए जाते हैं किन्तु अपने जीवन के ढङ्ग को लेकर क्या किंचित भी आदर्श एवं सुख-शान्तिमय है वहां का जन-जीवन ? हम मोटर-कार, हवाई जहाज़, एटम, हाइड्रोजन बम्ब के निर्माण की क्षमता से सभ्यता को नहीं नापेंगे। उसका आकलन तो हम किसी भी समाज के सोचने के ढङ्ग, आपसी व्यवहार एवं अन्यों के प्रति दिल में गुंजाइश से ही कर सकेंगे। विश्व में प्रचलित अथवा जानी हुई राजपद्धतियों पर यदि हम इतिहास की दृष्टि से ध्यान दें तो देखते हैं कि सारी दुनिया पर चढ़ दौड़ने वाले कम्यूनिज्म ने विशेष रूप से, तथा आज के इस तथा-

कथित प्रजातन्त्र ने भी जीवन का कुछ सुख नहीं भोग पाया—मेरा मतलब है इन्होंने कोई ग्रायु नहीं पाई। कम्यूनिज़्म तो पति अल्प ग्रायु में ही जरा अवस्था को प्राप्त हुग्रा ऐसा डगमगा रहा है कि पता नहीं कब इस दुनियां से नाता तोड़ दे। वैसी मरणासन्न अवस्था तो नहीं किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि में ही अभी बहुत थोड़ी अवस्था वाले अपने प्रचलित तथाकथित प्रजातन्त्र को भी हम निरन्तर क्षीण होता हुग्रा देख रहे हैं। एक कदम ग्रागे यह हरियाता है तो पीछे ग्राठ कदम तक यह सूख जाता है। अस्तु, दोनों के ही सम्बन्ध में थोड़ी मीमांसा हम यहां करेंगे। एक बात ग्रौर भी कह दें कि जो कुछ भी कहीं होता है उसके अवश्य ही कुछ कारण होते हैं तथा जो जितना ही स्वाभाविक एवं सहज है उतना ही वह गहरा एवं ग्रडिग होगा। इसके विपरीत जो अस्वाभाविक है वह टिकाऊ भी नहीं हो सकता। दूसरी बात एक यह भी है कि दुनिया को थोड़े समय के लिए धोखा दिया जा सकता हैं, सदैव उसे कोई धोखे में ही रख लें यह सम्भव नहीं। तो प्रथम हम इस तथाकथित साम्यवाद को देखें। साधारण रूप से 'साम्यवाद' से हम भारतीय जो अर्थ इसका समझेंगे उसमें हमारे लिए कुछ भी अनोखा नहीं। अपितु हमारे लिए वह एकदम स्वाभाविक चीज़ है। हमारा सनातन ग्रादर्श ही यह है कि कण-कण में ग्रात्मभाव को प्राप्त हो हम परमार्थ की राह पर चल सकें यथा "मदात्मा सर्व भूतात्मा"।

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् कहते हैं—

"सर्व भूतस्थमात्मानं सर्व भूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शिनः॥" ६।२६।
ग्रात्मौपम्येन सर्वत्र सम पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमोमतः॥ ६।३१।

किन्तु ग्राजकल जिस मजहब का नाम साम्यवाद कहके प्रचलित है, उसका वैसा कुछ भी अर्थ नहीं वरन् वह तो जैसे दुनिया की सारी शान्ति, सारी शुभ-भावना एवं सारी मर्यादाग्रों को निगल जाने को उद्यत एक महामारी स्वरूप उपस्थित हो। इसीलिए हमने इसे "तथाकथित साम्यवाद" कहा। कोई-कोई श्रेष्ठ पुरुष इसे "रूस-वाद भी कहते हैं क्योंकि सर्वप्रथम वहीं से उसका प्रारम्भ हुग्रा। रूस को ही केन्द्र-बिन्दु मानकर सारे संसार में जहां भी इसकी शाखाएं हैं, अब तक अपना कार्य करती ग्राई हैं तथा अब भी करती हैं केवल एक बात इस बीच में हुई है कि रूस के जन-मानस में पिछले बड़े युद्ध के बाद जो चेतना ग्राई उसके परिणाम स्वरूप वहां बदलती हुई भावनाग्रों के कारण अपनी उखड़ती हुई जड़ों के ग्राभास से चौकन्ने

अन्तर्राष्ट्रिय कम्यूनिस्ट उस्तादों ने अब चीन में अपना एक नया समानान्तर कार्यालय और खोल लिया है। आजकल एक के स्थान पर दो सर बन गए हैं अपने इन कम्यूनिस्ट कामरेडों के—एक रूस के रूप में दूसरा चीन देश में। अब जहां कहीं ये तथाकथित साम्यवादी हैं अपने इन्हीं दो आकाओं के निर्देशों को सर-आंखों पर लेकर पालन करते हैं। और इसमें एक बड़ी खूबी यह है कि मनुष्य होने के नाते अपनी ओर से कुछ सोच सकने अथवा धर्म अधर्म, उचित अनुचित, अच्छा बुरा इत्यादि पर विचार कर पाने की तो मानो इनकी शक्ति ही हर जाती है। ऐसा समझ में आता है मानो इन तथाकथित साम्यवादियों व रूस अथवा चीनवादियों से उन्हें अपना सदस्य बनाने के पहले उनका अपना मस्तिष्क ज़मानत के तौर पर लेकर रख लिया जाता है। एक साधारण सी बात है कि यदि घटिया या बुरे कारणों से कोई विचार व क्रिया घटिया उद्देश्य को लेकर उत्पन्न हो तो वह भी वैसी ही होगी—दूसरा कुछ हो नहीं सकता।

जो लोग इस तथाकथित साम्यवाद से परिचित हैं उन्हें यह अविदित न होगा कि इसका जन्म ही लोगों के दो वर्ग मानकर, एक वर्ग में दूसरे के प्रति ईर्ष्या, द्वेष एवं घृणा को भयानक रूप से उभार कर हुआ है तथा वैसे ही चलता जा रहा है। इसमें न कहीं स्वाभाविकता है, न मनोवैज्ञानिक रूप से पुष्ट कोई ऐसे सिद्धान्त हैं जो औचित्य की कसौटी पर कसे जा सकें तथा जिन्हे कोई बुद्धिमान् मनुष्य स्वाभाविक एवं कल्याणप्रद समझकर स्थिर रूप से ग्रहण करने योग्य समझे। यह तो ऐसे लोगों की घटिया भावनाओं को उभारकर, जिन्हें आर्थिक असुविधाएं हैं, इकट्ठी की हुई ऐसी जमात है, जिसका मकसद ही लूट-खसोट कर जहाँ से भी प्राप्त हो सके मौज करना है—अपनी समझ में···। इसे हम ऐसे डाकुओं की जमात समझ सकते हैं, जिन्हें सैद्धान्तिक रूप से उचित राज्यों की कमज़ोरियों के कारण ऐसा मौका प्राप्त हो गया है या हो जाए कि वे अपने को जो चाहें सो मान लें। सर्वमान्य सिद्धान्तों के अनुसार राज्य के कुछ विशिष्ट गुण होते हैं, जिनमें से सबसे आवश्यक यह है कि वहां का एक-एक नागरिक स्वतन्त्रतापूर्वक, सुख से, निर्भय अपना जीवन यापन कर सके तथा कोई किसी को सता न सके। धार्मिक स्वतन्त्रता, विचारों की स्वतन्त्रता, कहीं भी जाने-आने की स्वतन्त्रता, अपने खाने पीने और रहन-सहन की स्वतन्त्रता हमारे जन्मसिद्ध अधिकार हैं—इस बात को सामने रखकर कि हमारे किसी कार्य से किसी का सताना न हो। सही माने में सर्वमान्य राज्य वही हो सकता है जिसकी छत्र-छाया में हमारी इन स्वतन्त्रताओं की रक्षा होती हो, जैसी अवस्था में ही कि हम अपने को सुखी अनुभव कर सकते

हैं। इसे सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं कि सुख या दुःख मानसिक पहले हैं और शारीरिक बाद में। कहावत है कि "मिले खुश्क रोटी जो आज़ाद रहकर, तो बेहतर है जन्नत के लुकमों से बढ़कर"। कोई हमें एक बढ़िया मकान में बढ़िया से बढ़िया भोजन का प्रबन्ध करके यदि कैद करदे तो क्या हम अपने को सुखी अनुभव करेंगे? ऐसा देखने में तो आता नहीं। किन्तु अपने इन तथाकथित साम्यवादियों ने ऐसा ही मान लिया है। इनका चरम उद्देश्य रोटी व कपड़ा है। हमारी सारी स्वतन्त्रताओं को छीनकर बदले में हमें काफी रोटी-कपड़ा देने का वायदा करके ये हमें यह विश्वास करने को कहते हैं कि वह हमारे सुख की अवस्था होगी। तथा वैसी अवस्था को प्राप्त करने का उद्देश्य रखकर निरन्तर तब तक गुटबन्दी व गिरोहबन्दी करते जाने की, जब तक कि सारे विश्व पर ये हावी न हो जाएं, इनकी नीति है; तथा जहां मौका लगे उन्हीं सिद्धान्तों को उभारकर लोगों को निरन्तर उत्तेजनात्मक स्थिति में रखते हुए जिसमें उचित अनुचित के विचार का अवसर उन्हें न मिले; तोड़फोड़ एवं मारधाड़ करवाने और उसमें मदद देने का उनका कार्यक्रम है। सब जानते हैं कि जिन देशों में आज ये तथाकथित साम्यवादी अपनी सरकारें स्थापित कर लेने में सफल हो गए हैं, जो कि निश्चय ही टिकाऊ नहीं हो सकता क्योंकि मनुष्य आखिरकार एक समझदार प्राणी है, सो उसे कब तक पकड़कर पशुओं की तरह अपनी इच्छानुसार एक व्यक्ति या कितने ही व्यक्तियों के किसी गिरोह अथवा पार्टी द्वारा नियन्त्रण में रक्खा जा सकता है, वहां लोगों को स्वतन्त्रतापूर्वक अपने मन की बात प्रकट कर सकना तो बहुत दूर की बात है, स्वतन्त्र रूप से सोचने का भी अधिकार नहीं। वहां व्यक्ति अथवा उसके समाज की कोई सत्ता नहीं, सारा अधिकार सरकार के हाथ में अपनी ताकत के बल पर है और वह सरकार भी उन चन्द लोगों के गिरोह अथवा पार्टी के नीचे है। वहां पैदा होने से मरने तक मनुष्य को एकदम घुटने वाली मानसिक व शारीरिक कैद में जीवन यापन करना पड़ता है।

विशेष न कहकर रूस में हुई इनकी बदल पर हम एक दृष्टिपात और करेंगे। रूस में कम्यूनिज़्म के नशे का उतार है। बहुतों का घर बिगाड़ने वाले रूसी कम्यूनिज़्म ने पिछले बड़े युद्ध में जर्मनी के साथ अपने ही क्षेत्र में लड़े रक्षात्मक युद्ध में बहुत कुछ देख लिया है। उन दिनों शासन सत्ता के युद्ध में व्यस्त रहने के कारण रूस के जनवर्ग को जो किंचित् खुलकर सांस लेने का अवसर मिल गया उससे वहां के जनमानस में मानो चेतना की एक लहर सी कौंध गई। स्वातन्त्र्यहीनता के विरोध में विद्रोह हुए, हत्याएं हुईं। डाक्टरों वाले मामले को हम बाहर वालों ने भी सुना ही है। इत्यादि।

चतुर ख्रुश्चेव ने स्थिति को परखा। रूस में नये ढङ्ग प्रकट हुए उन्होंने यह स्पष्ट देख लिया था कि कोई भी कम्यूनिस्ट शासन, यदि उसके अपने अधिकार क्षेत्र पर आक्रमण हो जाए तो अपने द्वारा दबाकर स्वाभाविक ही हीन बनाई हुई जनता के साथ एकात्मता के अभाव में, वैसी प्राणरहित जनशक्ति के बल पर विजयशील सफल युद्ध नहीं लड़ सकता। लोहे सा पर्दा उघड़ा तथा दुनियां जानने लगी कि रूस में शासन की पद्धति क्या है ? व्यक्तिगत किंचित् स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में भी सोचने को वहां के अधिकारी बाध्य हुए। इसके विपरीत चीन में अभी कम्यूनिज़्म का उभार है। वहां के शासकों ने अभी दुनिया का कुछ भी सुख नहीं देख पाया तभी रूस का बूढ़ा कम्यूनिज़्म स्वयं संन्यासी का वेष बनाकर उसे ब्रह्मचारी के वेष में अपनी सेवा में लगे रहने की सलाह देता है। माओत्सेतुंग दमदार आदमी है। उसने कम्यूनिज़्म की पूर्ण शिक्षा ली है। लेनिन यदि भगवान् के दूत थे तो वह स्वयं भगवान् का अवतार है। रूस के सुधारवादियों की बात उसे मान्य नहीं और हो भी कैसे ? उसे यह पता है धोखे में भी चीन की बलपूर्वक दबाई जनता के गले से उनकी पकड़ यदि ढीली हुई तो गया फिर कम्यूनिज़्म। उसकी हड्डी-पसली भी ढूंढ़े न मिलेगी। माओत्सेतुंग अपनी असलियत जानता है। उसे जनबुद्धि के नशे की अवस्था पर अपनी निजी तथा पार्टी की स्थिति का ज्ञान है। इसीलिए उसके शासन क्षेत्र में किसी को स्वतन्त्र सोचने की किंचित् भी छूट नहीं। किन्तु कब तक चलेगा यह सब ? किसी भी दिन कागज़ के कंस की तरह उसकी धूल उड़ जाएगी—ऐसा स्पष्ट दिखने लगा है।

एक छोटी सी बात और। लोग उत्पत्ति (production) तथा वितरण (distribution) को व्यक्ति से छीनकर सरकारीकरण की बहुत चर्चा करते हैं, इसी में उन्हें प्रगति दिखती है। मैं विनय करता हूं कि वे इसके सारे पक्षों पर शान्ति से विचार करें। उद्योग एवं व्यापार के सरकाराधीन करने की ओर जितना इन वर्षों मे हम बढ़े हैं उसमें तो हमारी यह दशा हो चुकी है अब पूर्ण सरकारीकरण होने पर क्या और होगा सो समझा जा सकता है। एक बात अवश्य होगी कि हमारे मुह बन्द हो जाएंगे। दरअसल हमारा अपना सरकारीकरण मन एवं बुद्धि सहित हो लेगा। अस्तु, अच्छा होगा कि हम अपनी समस्याओं का हल यूरोपियन बुद्धि में न ढूढकर अपनी भारतीय धर्मशील नीति के आधार पर प्राप्त करे। "उद्योग अथवा व्यापार तथा विद्या सरकारी नियन्त्रण में अपनी निकृष्टतम स्थिति को प्राप्त होते हैं तथा सरकार के वैसा करने पर शासन में उसकी अपनी गुण-निष्पक्षता भी रह नहीं सकती और इस प्रकार ऐसी अवस्था में फिर हम भ्रष्ट ही होते चले जाते हैं।"

इसे हम समझें। समाज के सभी अंगों का अपना-अपना दायित्व हो सभी अपने-अपने कर्तव्यों का यथोचित पालन करें। सरकार में अपनी केन्द्रीभूत शक्ति के बल पर सदैव ही यह सामर्थ्य है कि अपना कर्तव्य उचित रीति से पालन न करने वाले को वह कठोर दण्ड दे। इस सम्बन्ध में सरकार को और अनेक बदलों के साथ-साथ एक विशेष बदल Court of Law के स्थान पर Court of Justice की करनी पड़ सकती है—किन्तु चलेगा वह तभी जब सरकारी दण्ड-शक्ति निष्पक्ष हो। अपने इस तथाकथित प्रजातन्त्र के विषय में अब कुछ विशेष न कहेंगे सिवाय इसके कि बहुमत अथवा अल्पमत का सिद्धान्त योरुप तथा अमेरिका वालों के अपने स्तर के अनुसार उनके अनुरूप हो सकता है पर भारत के चिन्तनशील न्यायवादी समाज पर उसे लादना ठीक नहीं। यह तो घोड़ों से गधों का बोझा ढुलवाने के समान होगा। सो वह भी चलता नहीं दिखता तो ठीक ही है। इसका फल भी इधर हमने स्वयं देखा है—सो उसे भी हम समझें।

महाभारत में अव्यक्त का स्वरूप

● गुरुदत्त

इस श्रृंखला के प्रथम लेख में हमने महाभारत के स्वरूप का वर्णन किया था। उसमें बताया था कि महाभारत में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और इतिहास का वर्णन है।

दूसरे लेख में हमने यह बताया था कि महाभारत में इतिहास का आरम्भ कबसे होता है ?

अब हम उस अवस्था का वर्णन करना चाहते हैं, जब अभी जगत् की रचना नहीं हुई थी। उस समय सब अव्यक्त था। अर्थात् सब कुछ इन्द्रियातीत था।

महाभारत के प्रणेता ने इसे महर्षि भृगु के मुख से इस प्रकार कहलवाया है।

मानसो नाम विख्यातः श्रुतपूर्वो महर्षिभिः।
अनादिनिधनो देवस्तथाभेद्योऽजरामरः॥
अव्यक्त इति विख्यातः शाश्वतोऽथाक्षयोऽव्ययः।
यतः सृष्टानि भूतानि जायन्ते च म्रियन्ति च॥

(महा भा० शा० पर्व—१८२—११, १२)

इसका अर्थ हैं कि महर्षियों ने सबसे पहले एक 'मानस' विख्यात नाम सुना था। वह अनादि, अनन्त, अभेद्य, अजर और अमर है।

वही अव्यक्त नाम से प्रसिद्ध है। यही शाश्वत, अक्षर, अव्यक्त है। उससे सब प्राणियों की उत्पत्ति होती है और उसमें सब लीन हो जाते हैं।

अर्थात् सृष्टि रचना से पूर्व एक अव्यक्त पदार्थ यहां था वह इन्द्रिय गोचर नहीं था। इस सूक्ष्म इन्द्रिय गोचर पदार्थ के विषय में लिखा है कि वह अक्षर है।

भगवद् गीता में अक्षर की व्याख्या की गयी है। अर्जुन कृष्ण से पूछते हैं :

किं तद्ब्रह्म————और श्रीकृष्ण बताते हैं——अक्षरं ब्रह्म। अर्थात् प्रश्न है कि ब्रह्म क्या है ? और भगवान् कृष्ण कहते हैं कि जो अक्षर है, वह ब्रह्म है। अभिप्राय यह है कि अक्षर पदार्थ का नाम ब्रह्म है।

ब्रह्म का स्वरूप भी वर्णन किया गया है। यद्यपि महाभारत के प्रणेता महामुनि व्यास जी भी ब्रह्म की व्याख्या करते हैं, परन्तु इसकी व्याख्या श्वेताश्वतर उपनिषद् में बहुत स्पष्ट रूप में की गई है। वहां यह लिखा है।

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा, ह्येका भोक्तृभोगार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता, त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्॥

और लिखा है :—

भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा, सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्॥
(श्वेताश्वतर——१-९, १२)

इसका अर्थ है कि ज्ञानवान् और अज्ञानी, शक्तिमान् और असमर्थ ये दो अजन्मा (अनादि, अनन्त) हैं। एक अन्य अजन्मा है जो भोक्ता के भोग के लिए है। विश्व में व्याप्त शक्ति अकर्ता है; अर्थात् वह अनन्त आत्मा भोग नहीं करता।

भोग करने वाला, भोग्य पदार्थ और इन दोनों पर नियन्त्रण रखने वाला, यह तीन प्रकार का ब्रह्म है।

और महर्षि व्यास जी ने श्रीमद्भगवद् गीता में ब्रह्म को ही अक्षर माना है। अतएव महाभारत का यह मत है कि तीन अक्षर पदार्थ हैं जो अव्यक्त हैं और जिनसे चराचर जगत् की सृष्टि होती है और फिर पूर्ण सृष्टि प्रलय के समय इन्ही अव्यक्तों में लीन हो जाती है।

इन तीनों अव्यक्तों का भिन्न भिन्न स्वरूप है। एक अक्षर है जीवात्मा, दूसरा अक्षर है प्रकृति और तीसरा अक्षर है परमात्मा।

पहले जीवात्मा एवं परमात्मा के स्वरूप का वर्णन करते हैं। महर्षि व्यास निम्न बात ब्रह्म के मुख से कहलवाते हैं।

तत्र यः परमात्मा हि स नित्यं निर्गुणः स्मृतः।
स हि नारायणो ज्ञेयः सर्वात्मा पुरुषो हि सः॥
(महा भा० शा० पर्व—३०१-१४)

वहां (अव्यक्तावस्था में) जो परमात्मा है, वह नित्य (अनादि, अनन्त) निर्गुण कहा जाता है। वह नारायण नाम से जाना जाता है। वह पुरुष सबका आत्मा है। अर्थात् सबमें उपस्थित है।

आगे लिखा है:—

न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा।
कर्मात्मा त्वपरोयो सो मोक्षबन्धैः स युज्यते ॥

(महा भा० शा० पर्व—३५१-१४)

स सप्तदशकेनापि राशिना युज्यते च सः।
एवं बहुविधः प्रोक्तः पुरुषस्ते यथाक्रमम् ॥

(महा० भा० शा० पर्व—३५१-१५, १६)

वह (जिसका ऊपर वर्णन किया है अर्थात् परमात्मा) कमल के पत्ते की भाँति अलिप्त रहता है। कमल पानी में रहता हुआ भी अलिप्त रहता है वैसे ही परमात्मा इस संसार में रहता हुआ अलिप्त रहता है, परन्तु कर्मों के करने वाला तथा बन्धन और मोक्ष से सम्बन्ध रखने वाला (जीवात्मा) भिन्न है।

यह (जीवात्मा) सत्रह (दस इन्द्रियां, पंच महाभूत, मन और बुद्धि) तत्वों के समूह का संयोग प्राप्त करता है। वह बहुत प्रकार के जन्मों में कहा जाता है। यह परमात्मा और आत्मा की बात क्रम से बताई है।

तीसरे अव्यक्त के विषय में भी इस प्रकरण में महर्षि इनसे भी पहले बताते हैं। कहा है:——

अशरीरः शरीरेषु सर्वेषु निवसत्यसौ।
वसन्नपि शरीरेषु न स लिप्यति कर्मभिः ॥

(महा भा० शा०पर्व—३५१-३)

अर्थात्—वह (परमात्मा) शरीर रहित है और सब शरीरों (स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों) में रहता है। इन शरीरों में रहता हुआ भी वह कर्म में लिप्त नहीं होता।

यह शरीर प्रकृति ही है। प्रकृति के भी तीन रूप हैं। कारण रूप; जिसे सांख्य वाले त्रिगुणात्मक प्रकृति मानते हैं। सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर, अर्थात् प्रकृति का सूक्ष्म रूप जिसे वैशेषिक दर्शन वाला अविशेष मानता है और स्थल जिसे वह विशेष मानता है; इन सबमें परमात्मा रहता है।

मनुस्मृति में भी सृष्टि रचना के प्रसंग में प्रकृति के विषय में यह लिखा है:—

आसीदिदं तमो भूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥

(मनु०—१-५)

अर्थ है—प्रलय काल में यह प्रकृति अन्धकारमय, अज्ञेय, (न जानी जाने योग्य; अर्थात् इंद्रियों से न दिखाई देने वाली) चिह्न रहित, तर्क से भी न जानी जाने योग्य और सर्वत्र सोये हुए के समान होती है।

परमात्मा का भी मनु ने वर्णन किया है। वह इस प्रकार है:—

योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ॥

(मनु०—१-७)

वह (परमात्मा) अतीन्द्रिय (इन्द्रियों से ग्रहण करने के अयोग्य, सूक्ष्म स्वरूप अव्यक्त, नित्य और सब प्राणियों में विद्यमान, अचिन्त्य रूप से स्वयं प्रकट हुआ।

जीवों के विषय में महर्षि व्यास श्रीमद्भगवद् गीता में ही लिखते हैं:—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धयनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान्॥

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यत॥

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तौ देहेऽस्मिन्पुरुष : परः॥

(भ० गी०—१३-१६, २०, २१, २२)

प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि हैं। (प्रकृति के) गुणों में विकार होने से (सब पदार्थ) प्रकृति से ही उत्पन्न हुए हैं।

कार्य (जगत्) और इन्द्रियों के उत्पन्न करने में प्रकृति ही हेतु कही जाती है। पुरुष (जीवात्मा) सुख:दुख का भोक्ता कहा जाता है।

पुरुष (जीवात्मा) प्रकृति (शरीर) में रहता हुआ प्रकृति से उत्पन्न गुणों का भोग करता हुआ इन गुणों के संग से अच्छी योनियों में जन्म लेता है।

इस देह में स्थित पुरुष (जीवात्मा) से भिन्न दूसरा एक परमात्मा है जो उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता और महेश्वर है। यहां भोक्ता का अर्थ प्रलयकर्ता मानना चाहिए।

इस प्रकार महर्षि ने तीनों अव्यक्तों का वर्णन किया है। महर्षि व्यास भगवद् गीता में व्यक्त-अव्यक्त के विषय में यह लिखते हैं।

अव्यक्ताद्व्यक्तय: सर्वा: प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥

भूतग्राम: स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवश: पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातन:।
य: स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥

(भ० गी०—८-१८, १९,२०)

अर्थात्—ब्रह्म दिन के आने पर अव्यक्त (मूल प्रकृति) से व्यक्त (इन्द्रियों के दृश्यमान) पदार्थ उत्पन्न होते हैं। और पुन: ब्रह्म रात्रि आने पर सब कुछ उसी अव्यक्त (मूल प्रकृति) में विलीन हो जाते हैं।

सब भूत ग्राम (प्राणि मात्र) उत्पन्न हो होकर पर वश ब्रह्म रात्रि के आने पर (प्रकृति) में लय हो जाते है और फिर ब्रह्म दिन के आने पर उत्पन्न होते है।

परन्तु उस अव्यक्त (मूल प्रकृति) से भी परे एक दूसरा सनातन अव्यक्त भाव है। वह सब प्राणियों के नष्ट होने पर भी नाश को प्राप्त नहीं होता।

आगे कहा है:—

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥
(भ० गी०—८-२१)

अर्थात्—अव्यक्त अक्षर कहा गया है। उसे परम गति कहते हैं। उसको प्राप्त होकर जीव पीछे नहीं लौटते। वह मेरा परम स्थान है।

इस प्रकार अव्यक्त जगत् की उस अवस्था को कहा है जो प्रलय काल में होती है। वह अवस्था इन्द्रियों से ग्रहण नहीं हो सकती। ब्रह्म रात्रि के समय अव्यक्तावस्था में तीन प्रकार के अव्यक्त रहते हैं। मूल प्रकृति, जीवात्माएं और परमात्मा।

एक उपनिषद् के अनुसार इन तीनों को ही ब्रह्म कहते हैं।

भारतीय साहित्यकार संघ की 'कार्य-समिति'

भारतीय साहित्यकार संघ के विधान, धारा ५ङ के अनुसार केन्द्रीय कार्यसमिति की घोषणा निर्वाचनायुक्त पं० ब्रह्मदत्त प्रिंसिपल तिब्बिया कालेज ने की है।

अध्यक्ष — आचार्य अमृतवाग्भव
महामन्त्री — क्षितीश वेदालंकार
कार्यकारी अध्यक्ष तथा वरिष्ठ उपाध्यक्ष — डॉ० रामदत्त भारद्वाज
उपाध्यक्ष — डॉ० मुंशीराम शर्मा सोम
उपमन्त्री — श्री अश्विनीकुमार वर्मा
उपमन्त्री — प० योगेशचन्द्र चतुर्वेदी
कोषाध्यक्ष — राजपाल शास्त्री
कार्यसमिति के सदस्य: सर्व श्री — डॉ० रामप्रसादमिश्र,
— डॉ० विष्णु भारद्वाज,
— डॉ० ओमप्रकाश,
— श्री कृष्णमित्र
— श्री सुन्दरदास
केन्द्रीय वैधानिक सलाहकार — श्री गजानन्द एडवोकेट

पत्रकारिता ....एक उद्योग ....एक व्यवसाय

● कु० मंजु शर्मा

"ज्ञान पाप हो जाता है यदि उद्देश्य शुभ न हो" । यह शब्द आज की पत्रकारिता पर पूरी तरह लागू होते हैं ।

पत्रकारिता मानव को दूसरे मानव से, एक समाज को दूसरे समाज से तथा एक देश को दूसरे देश से परिचित कराती है । यह एक ऐसी ज्ञान मंजूषा है जो मानव-जीवन, इस सृष्टि बल्कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के बारे में किसी भी प्रकार का ज्ञान प्रदान करते नहीं थकती। राजनीति के क्षेत्र में तो यही एक ऐसा मंच है जहां प्रत्येक नागरिक अपने विचारों की अभिव्यक्ति स्वतन्त्रता पूर्वक कर सकता है । भारत जैसे प्रजातान्त्रिक देश में तो इसका महत्व और भी बढ़ जाता है । भारत में पत्रकारिता का जन्म राजा राम मोहन राय के समय सेवा की दृष्टि से हुआ था । भारतेन्दु जी, तिलक, गोखले, महावीर प्रसाद द्विवेदी आदि ने सेवा भाव के उस आदर्श को बनाए रखा। इनका उद्देश्य देश में सामाजिक एवं राजनैतिक जागृति पैदा करना था। बीसवीं शताब्दी में, रोटरी, लाइनोटाइप और टैलीप्रिंटर्स जैसे आविष्कारों ने पत्रकारिता के क्षेत्र में क्रांति ला दी । बड़ी-बड़ी मशीनों को खरीदना पूंजीपतियों के लिए ही सम्भव था। अन्य उद्योगों की भांति उन्होंने बड़े-बड़े प्रैस खोलकर पत्रकारों को अपना वेतनभोगी सेवक बना लिया। इसी मोड़ पर सेवा की भावना पूंजीपतियों की मुनाफाखोरी में विलीन हो गई ।

मुनाफाखोरी की भावना ने पत्रकारिता के आदर्शों को बुरी तरह उखाड़ फेंका । किसी अन्य उत्पादन की ही भांति उनका एकमात्र उद्देश्य अधिकतम समाचार पत्र बेचना है । इस दौड़ में समाचार-पत्रों की प्रकाशन संख्या तो निश्चय ही बढ़ जाती है किन्तु उसके लिए वह कुछ ऐसे अनुचित ढंग अपनाने लगते हैं कि पत्र-कारिता का स्वरूप ही बदल जाता है। जनता को शिक्षित करने की बजाय वह अपनी नीतियों से जनता को प्रभावित करते हैं। यह पत्रकारिता का विकृत रूप है जिसे सीधे-सादे शब्दों में 'यैलो-जर्नलिज्म' कहा जाता है । आजकल यह पत्रकारिता में संक्रामक रोग की भांति बहुत फैलता जा रहा है। समाचार को उसी रूप में न

देकर अपनी नीतियों के अनुसार उसमें एक पक्षीय विचार भर दिए जाते हैं। आज निकलने वाले सभी समाचार पत्र किसी न किसी दल से सम्बन्धित हैं।

उस दल से सहायता प्राप्त करने वाले समाचार पत्रों में उनके पक्ष की बात को ही खूब बढ़ा-चढ़ा कर दिया जाता है, उनके पक्ष में सम्पादकीय भी खूब बढ़िया दे दिए जाते हैं और विपक्षी दल के समाचार पत्र के किसी कोने में—उपेक्षित शब्दों के साथ बिठा दिए जाते हैं। जैसा कि 'ब्लिट्ज़' 'ऑरगेनाइज़र' और 'करन्ट' आदि में प्रायः होता है। 'ब्लिट्ज़' इन्दिरा सरकार की प्रत्येक बात का पूरा-पूरा समर्थन करेगा, उसे मुख्य समाचार बनाकर बड़े-बड़े शीर्षक देकर छापेगा। इसी संदर्भ में पिछले चुनाव में श्री कृष्णा मैनन वाली घटना स्मरण हो आती है। कृष्णा मैनन चुनाव हार गए इस पर भी 'ब्लिट्ज़' ने निकाला कि "कृष्णा मैनन विजयी हुए चाहे यह उनकी नैतिक विजय ही हो।" ऐसा नहीं कि विपक्षी दल वाले सदा गलत बात ही कहते हैं किन्तु यह पत्र विपक्षी दल की प्रत्येक बात का खंडन करते हैं। ठीक ऐसा ही ऑरगेनाइज़र करता है। यदि इन्दिरा गांधी और वाजपेयी दोनों का भाषण एक ही दिन हुआ हो तो ऑरगेनाइज़र वाजपेयी जी का भाषण तो चित्रों सहित तीन-चार पृष्ठों में अक्षरशः छाप देगा और इन्दिरा गांधी के भाषण का कहीं नाम भी नहीं होगा। समाचारों को अपनी इच्छानुसार कहानी के रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

अकबर इलाहाबादी ने ठीक ही कहा था—

"यूं तो 'राइटर' की खबर सच होती है,
कदम जर्मन का बढ़ता है
फतेह इंगलिश की होती है।"

कई बार तो समाचार बिल्कुल ही मनघड़ंत होते हैं। अभी हाल ही में मनीराम में श्रीमती इन्दिरा गांधी के भाषण के बारे में यह कहा गया कि उन्हें कर्पूरी ठाकुर आदि के दल ने भाषण नहीं देने दिया। इस समाचार को तो बड़े-बड़े शीर्षकों से छापा गया। इसी बात का खडन करत हुए श्रीमती गांधी ने स्वयं यह स्वीकार किया कि ऐसी कोई विशेष बात नहीं थी। इस समाचार को समाचार पत्र के एक कोने में थोड़े से शब्दों में छाप दिया गया। पहली बात का प्रभाव तो जनता पर निश्चय ही अधिक गहरा पड़ेगा······यही है 'यैलो जर्नलिज़्म'। इतना ही नहीं समाचारों में इस प्रकार की भाषा भर दी जाती है जिससे साधारण जनता में उत्सुकतावश हलचल मच जाती है। कलकत्ता में 'अशोककुमार नाईट" इसका

ज्वलन्त उदाहरण है। इस रंगशाला में कुछ एक लड़कों की हुल्लड़बाज़ी को सभी समाचार पत्रों ने इस प्रकार बढ़ा-चढ़ाकर दिया कि एक बार सारे देश में सनसनी फैल गई और बाद में पता चला कि उसमें कोई विशेष बात नहीं थी।

कुछ दिन पहले लंदन में कुछ एक मनचले लड़कों ने कुछ इमारतों के शीशे आदि तोड़ दिए थे। इस समाचार को समाचार पत्रों ने यह कह कर छापा कि लंदन का युवा वर्ग परिवर्तन चाहता है इसलिए उन्होंने यह तोड़-फोड़ की जबकि वास्तव में इस तोड़-फोड़ के पीछे कोई कारण नहीं था। आज शायद ही कोई समाचार अपने शुद्ध रूप में जनता के समक्ष प्रस्तुत किया जाता हो अन्यथा प्रत्येक में कुछ न कुछ मन-घड़ंत बातें जोड़ दी जाती हैं। व्यंग्य-चित्र तक समाचार की नीति के अनुसार सदा एक पक्षीय होते हैं।

'यैलो जर्नलिज़्म' में सरकार का भी काफी हाथ रहता है। सरकार का प्रकाशन संख्या के अनुसार विज्ञापन कोटा देना 'यैलो जर्नलिज़्म' को बढ़ावा देना है। एक बार एक मन्त्री महोदय ने कहा था कि "छोटे पत्रों को प्रोत्साहन देना हमारा कर्तव्य है।" इस प्रोत्साहन को प्राप्त करने के लिए स्पष्ट है कि पत्रों को सरकार की हां में हां मिलानी पड़ती है। यही हां में हां मिलाना पत्रकारिता का विकृत रूप है। आज सभी समाचार पत्रों की यही परिपाटी है। जिसके कारण जनता विभिन्न पत्रों के विचारों में भटक जाती है और उचित-अनुचित का निर्णय नहीं कर पाती जबकि पत्रों का कर्तव्य जनता को केवल तथ्यों से अवगत कराना है भटकाना नहीं। पूंजीपतियों का वेतनभोगी सेवक होने के कारण पत्रकार की लेखनी चाहते हुए भी सत्य को चरितार्थ नहीं कर पाती। वह अपने मालिक के प्रति अपनी सरकार के प्रति उत्तरदायी होता है। यदि वह विद्रोह करता है तो उसे नौकरी से हटा दिया जाता है। यही कारण है कि पत्रकारिता में आज सत्यं शिवं सुन्दरम् को भुलाकर एक ही नारा लगाया जाता है, बिक्री······और बिक्री······और बिक्री······।



वैद्यान् प्रति

शिवं वैद्यनाथं स्तुवन्तो नमन्तः
समासां वराणां कलानां निधानम् ।
सुधाभावसम्पादने शक्तिमन्तो
जयन्त्वत्र वैद्याः समस्तौषधीनाम् ॥ १॥

गदहानये सुयशसां भिषजां
हृदये समुल्लसितया दयया ।
गरलं निरर्गलतया गदिना-
ममृत भवेदिति विदन्ति विदः ॥ २ ॥

भुवि वैद्यनाथशिवभूमिकया
करुणार्द्रयाऽस्ति वरया कलया ।
अमृतं निपाय्य च निपीय विषं
जगदम्बया जगदिदं खचितम् ॥ ३ ॥

अहमर्थये नु पटुवैद्यवराः !
भिषजो न सन्तु धनिचाटुकराः ।
सममेव धन्यधनसर्वजनान्
गदनिग्रहेण सुखयन्तु सदा ॥ ४ ॥

मम वागियं रचयते भिषजां
प्रमिताक्षरा सुवचनापचितिम् ।
अकलङ्ककीर्तिरिह तान् वृणुताम्
जनसेविनो य इह सद्भिषजः ॥ ५ ॥

अमृतं च वाग्भवमिति प्रथितं
त्रिगुणेश्वरं स्वहृदये भजते ।
स बृहस्पतेर्यदि भजेत् पदवीं
विदुषां विचित्रमिह किं वदत ॥ ६ ॥

● आचार्य अमृतवाग्भवः

वैद्यों के प्रति

भगवान् वैद्यनाथ शिव की स्तुति करने वाले एवं उनको प्रणाम करने वाले श्रेष्ठातिश्रेष्ठ कलाओं के निधि उन वैद्यों की विजय हो जो इस संसार में समस्त ओषधियों को अमृत बनाने में समर्थ हैं ।१।

विद्वानों की धारणा है कि रोगनाश करने में यशस्वी वैद्यों के हृदय में विद्यमान दया से रोगियों के लिए विष भी निर्बाध रूप से अमृत हो जाता है ।२।

करुणार्द्रा जगदम्बा ने अपनी श्रेष्ठ कला द्वारा वैद्यनाथ शिव के रूप में अन्यों को अमृत पिलाकर एवं स्वयं विष पीकर इस भूतल पर जगत् की रचना की है ।३।

हे पटु एवं विशिष्ट वैद्यो ! मैं निववेदन करता हूं कि वैद्यगण धनियों के चाटुकार न हों, तथा निर्धन एवं धनियों के (उनके) रोगों को समान भाव से शान्त कर उन्हें सुखी करें ।४।

मेरी यह अल्पाक्षरा वाणी शुभ शब्दों से वैद्यों की प्रशंसा करती है तथा निष्कलङ्क कीर्त्ति इस संसार में उन सद्वैद्यों को ही चुने जो लोक-सेवा करते हैं ।५।

सम्पूर्ण वाणियों के मूल एवं अमृतस्वरूप में प्रसिद्ध भगवान् त्रिगुणेश्वर को हृदय से भजने वाला यदि बृहस्पति की पदवी अथवा समानता को प्राप्त करता है तो बताइए विद्वानों के लिए इसमें क्या आश्चर्य है ।६।

आचार्य अमृतवाग्भवः

अपभ्रंश, हरियाणवी और हिन्दी शब्दों की तुलनात्मक तालिका

● डॉ० विष्णु दत्त भारद्वाज

[हरियणा प्रान्त की उद्‌भावना के साथ हरियणा की लोक-संस्कृति का भी अध्ययन प्रारम्भ हो गया है। 'श्रेय' के द्वितीयाङ्क में ही उपर्युक्त विद्वान् का हरियाणा सम्बन्धी शोधपूर्ण लेख प्रकाशित किया गया था। भाषा-विज्ञान के विद्यार्थियों की दृष्टि से हेमचन्द्र कृत 'देशी नाममाला' नामक अपभ्रंश कोष के आधार पर अपभ्रंश, हरियाणवी, हिन्दी या संस्कृत शब्दों की एक तुलनात्मक तालिका प्रस्तुत की जा रही है। अपभ्रंश और हरियाणवी की निकटता अत्याधिक रोचक है। हरियाणवी लोकभाषा की अभिव्यक्ति सम्पन्नता साहित्य के विद्यार्थियों के लिए भी अभिरुचिकर होगी ऐसी हमें आशा है। तालिका में (< और =) टाइप के अभाव के कारण , (अर्द्धविराम) से ही काम चलाया गया है। आशा है 'श्रेय' के पाठक अपभ्रंश, हरियाणवी, हिन्दी अथवा संस्कृत क्रम को ध्यान में रखेंगे और असुविधा के लिए हमें क्षमा करेंगे।]

—सम्पादक

अणाडो, नाड, नारा।
अप्फुण्णं, उफाण, उप्फुण्णं (देशी)०।
अम्बा, अम्मां, मां।
उक्कासिअं, उकासा, ऊपर उभरा।
उडिदो, उड़द, (माषधान्यम्)।
उत्थल्ला, उथला, (परिवर्तनम्)।
उंडं, उंडा, गम्भीर।
उल्ली ऊल, चुल्ली।
ऊरणी उरणिया, उरभ्र।
ओड्ढणं, ओढ़णा, उत्तरीय।
ओल, ओल्ला।
ओसरिआ, उसारा, ओसारा।
कच्छरो, काद्दा, (कर्दम)।
कट्टारी, कटारी, छुरिका।
कडच्छू, कड़छी, अयोदर्वी।
कडंमुअं, कूंड, भाण्डविशेष।
कंटाली, कटैली, कण्टकारिका।
कंठमल्लं, काठी मृतप्रवहणम्।
कण्णंबालं, बाली, कर्णाभूषण।

कण्णासो, कानस, पर्यन्त।
कप्परिअ, काप्पी, दारित।
खप्पर, खपरा।
करमरी, करीघरी, (हटहृता स्त्री)।
करिआ, करूआ (करक संस्कृत मद्यपरिवेषण-भाण्ड)
कल्ला, कलाल, मद्य।
काणच्छी, काणा, काणाक्षि।
कारा, कार, रेखा।
कालओ, काला, धूर्त।
काहारो, कहार, जलादिवाही कर्मकर।
किण्णं, कणा, शोभमानम।
किलिच, किल्ली, लघुदारु।
किविड, किवाडी, पार्श्वद्वार।
कुक्कुरुडो, कूडा, निकर।
कुक्खी, कूंख, कुक्षि।
कोइला, कोला, काष्टाङ्गार।
कोज्झरिअं, कोच्छा, अपूरित।
कोट्टुं, कोडा, कुड्यम्।

कोण्णो, कुण, कोण ।
कोत्थलो, कोट्ठा, कुशूल ।
कोत्थलो, कोथला, थैला ।
कोल्हुश्रो, कोहलू, इक्षुनिपीडनयंत्र ।
कोसयं, कसोरा, लघुशराव ।
खट्टं, खाटा, खट्टा ।
खट्टिको, खटीक, सैनिक ।
खडक्की, खिड़की, लघुद्वार ।
खड्डा, खाड, खानि ।
खणुसा, खूणस, मनोदुःख ।
खंडं, खांड, मीठा ।
खण्णं, खाना, खात ।
खरडिग्रं, खरड, रूखावस्त्र ।
खली, खल, तिलपिण्डिका ।
खल्ला, खल्ला, जूता ।
खवश्रो, खवा, कन्ध ।
खव्वो, खाव्वा, वामकर ।
खाइग्रा, खाई, परिखा ।
खिज्जिग्रं, खीज, उपालम्भ ।
खुंपा, खूम्बी, वर्षा में उत्पन्न छत्र ।
खोडो, खोडा, खञ्ज ।
खोली, खोली वस्त्रैकदेश ।
गग्गरी, घाघरी, गर्गरी ।
गड्डी, गाड्डी, गन्त्री ।
गढो, गढी, दुर्ग ।
गणायमहो, गायणा, गणक ।
गंडीरी, गंडेरी, इक्षुखण्ड ।
गुउदालिग्रं, गिंदोड़ा, पिण्डीकृत ।
गुत्ती, गात्ती, बन्धन ।
गुंफो, गोफिया, गुप्तिः ।
गोज्जम्, गोज्जी, तक्र (दुग्ध मिश्रित) ।
गोंडं, गोंडा, गोंडी, मार्ग ।
गोरा, गोरा, गोरुश्रा=लाङ्गलपद्धति, ग्राम के निकट का खेत ।
गोव्वरं, गोबर, गोमय ।
गोसण्णो, गोसणा=गोसंज्ञ, मूर्ख ।
घग्घरं, घाघरा, जघनस्थवस्त्रभेद ।
घट्टो, घाट, नदीतीर्थं ।
घम्मोडी, घमूड़, तृणविशेष ।
घारो, हारा, प्राकार ।
घुत्तिग्रम्, घुत्ता, गवेषित ।
चउक्कं, चौंक, चत्वर ।
चक्कलं, चकला, वर्तुल ।
चंगं, चंगा=चारु, स्वस्थ ।
चच्चा, चरचा, चर्चा ।
चडो, चूंडा, शिखा ।
चदइल्लो, चंदा, मयूरपंखचन्द्र ।
चवेडी, चम्डला, संपुट ।
चाउला, चौल, चावल ।
चिंचा, चिंग्रा, ग्रम्लिका-बीज ।
चिणोट्ठी, चिरमठी, गुञ्जा ।
चित्तलं, चितल, चित्रित ।
चिरिक्का, चड़स, चर्ममयजलभाण्ड ।
चुंचुश्रो, चूंच, शेखर ।
चुंचुलिपूरो, चलू, चुलुक ।
चुंचुली, चुंच, चञ्चु ।
चुणश्रो, चूहड़ा, चण्डाल ।
चुप्पालो, चुपाल, बैठक ।
चुप्पो, चप्पी, सस्नेह ।
चुश्रो, चूंच, स्तनशिखा=चूचूक ।
चूडो, चूडा, वलयावली ।
चेडो, चेड़ा, बालक, चेट ।
चोट्टी, चोटी, शिखा ।
चटट्, चटट, दारुस्तव, थप्पड़ ।

छइल्लो, छैल, विदग्ध ।
छंटो, छांट, छांटा, जलवर्षा ।
छल्ली, छाल, त्वक् ।
छाणं, छाणस, गोमय ।
छारयं, छोला, इक्षुशल्कम् ।
छासी, छाह, छा, ल्हासी, तक्र ।
छिक्कं, छींक, क्षुत ।
छिण्णाली, छिनाली, दुश्चरित्रा ।
छिप्पं, चिप्पड़ी, भिक्षापात्र ।
छिप्पीरं, छप्पर, पलाल ।
छिल्लरं, छिलर, पल्वल ।
छिवओ, छिवर, छेवर, छ्योर, समूह ।
छेत्तरं, छित्तर, जीर्ण शूर्प ।
छेलओ, छैल, छाग ।
छोहो, छोह, क्षोभ ।
जडिअं, जडाऊ, जड़ित ।
जरंडो, जरड़, वृद्ध ।
जवओ, जौ, यवाङ्कुर ।
जाडी, झाड़ी, गुल्म ।
झज्झरी, झज्झरी, झज्झर ।
झडी, झड़ी, निरन्तरवृष्टि ।
झंपणी, झांपण, पक्ष्म ।
झाडं, झाड़, लतागहन ।
झामिअं, झाम्मा, दग्ध ।
झिरिडं, झेरा, जीर्णकूप ।
झुट्ठं, झूंठा ।
झोट्टी, झोट्टी, अर्धमहिषी ।
झोलिआ, झोली, झोलिका ।
टारो, टार, अधमतुरङ्ग ।
टिक्कं, टीका, तिलक ।
टूंटो, टूंडा, छिन्नकर ।

टेक्करं, टेकड़ा, स्थल ।
टोक्कणं, टोकणा, पात्र ।
ठल्लो, ठल्ला, निर्धन ।
डग्गलो, डगल, पत्थर ।
डंडयो, डांडी, रथ्या ।
डलो, डला, लोष्ट ।
डहगी, डहर, जलाशय ।
डाअलं, डोला, लोचनप्रान्त ।
डाली, डाली, शाखा ।
डुंगरो, डुंगर, पर्वत ।
डुंघो, डूंघा, गहरा ।
डोओ, डोई, दारुहस्त ।
डोला, डोली, शिबिका ।
ढंकणी, ढकणी, पिधानिका ।
ढयरो, ढेहा, निम्न जाति का व्यक्ति ।
ढेंका, ढेकली, कूपतुला ।
णक्को, नाक, नास, नासिका, नक्र ।
णत्था, नाथ, नासारज्जु ।
णहरी, नहेरणी, क्षुरिका ।
णीसणिआ, निस्सरणी, निःश्रेणी ।
तग्गं, तागा, सूत्र ।
तट्टी, टांटी, वृति ।
तल्लं, ताल, पल्वल ।
थं डिल्लं, थडा, ऊंचा टीला ।
थहो, थेह, थे, जीर्ण निलय ।
थाहो, थाह, जल की गहराई ।
थुण्णो, थूण, दृप्तः ।
थूहो, थू, शिखिर ।
थोह, थू, बल ।
दडवडो, दडा, आक्रमण ।
दंडी, डांडी सूत्रकनक ।

दुग्गं, ढुंगा, कटि ।
दोरो, डोरा, कटिसूत्र ।
दोहणहारी, दोहणी, दुहणिया, दुणिया ।
धणिश्रा, धण, पत्नी ।
धणी, धणी, पति ।
धूमरी, धूमरी, धूम्रवर्ण ।
पक्खरा, पाखर, तुरंगसनाह ।
पंखुरी, पांखडी, पत्र ।
पट्ठी, पाट्ठी, प्रथमप्रसूता ।
पत्थारी, पथारी, पथवारी, निकर ।
पारंकं, पारिया, सुराभाण्ड ।
पारयं पारी, भाण्ड ।
पारी, पारी, दोहनभाण्ड ।
पिंचू, पींज, पक्वकरीर ।
पिंडी, पिंडी, पिंडा, समूह ।
पुप्पुश्रं, फुफा, पितृष्वस ।
पूणी, पूणी, यन्मध्यात्सूत्रतन्तुनिसृत ।
पूरी, पूर तन्तुवायोपकरण ।
पेड्डा, पेड्डा, वृक्ष का मूल भाग ।
पेंढा, पैंढा, घडा ।
पोच्चं, पोच्चा, सुकुमारलेपन ।
पोट्टं, पोट, उदर ।
फग्गू फाग, वसन्तोत्सव ।
फली, फाली, हल की कुश ।
बइल्लो, बुलद=बलीवर्द, बैल ।
बउहारी, बुहारी, झाडू ।
बब्बरी, बाबरी, केशरचना ।
बुक्का, बुक्क, श्रोक, मुष्ठि ।
बोकडो, बोकड, छाग ।
बोडं, विटकणा, चुचूक ।
बोहारी, बुहारी, संमार्जनी ।
भंडो, भांड, मागध ।
भाउज्जा, भाणजा, भ्रातृजाया ।
भुक्खा, भूखा, बुभुक्षा ।
मउड़ी, मौंड़, मुकुट ।
मक्कोड़ा, मकोड़ा, ऊर्णपिपीलिका ।
मज्झआरं, मझार, मध्यम ।
मट्ठो, माठा, श्रलस ।
मंडिलो, मांडा, श्रपूप ।
मम्मी, मामी, मातुलानी ।
महल्लो, महाल, पहलवान ।
मेढो, मींढा, वणिक्सहाय ।
मोडो, मोड, मुकुट ।
राडी, राड़, झगडा ।
रुश्रं, रूई ।
रेणी, रेणी, रेणु, पंक ।
रेसिश्रं, रेसा, छिन्न ।
रोट्टं, रोट, रोटी ।
रोलो, रोला, कलह ।
लक्कुडं, लकड़, लकड़ी ।
लेड्डुक्को, लेहडो, लेड्डा, लोभी ।
वट्टा, बाट, मार्ग ।
वड्डा, बड़ा, वृद्ध, ताऊजी ।
वणई, बणी, वृक्षपंक्ति, वनराजि ।
वरडी, भिरड़, दंशभ्रमर ।
वलवाडी, बाड़ी, वृति ।
वहडो, बैहडा, दम्यवत्स ।
वायणं, बायण, भोज्य-उपायन ।
वायारो, बाल, शिशिरवात ।
वारो, बरुश्रा, चषक ।
विश्रालो, ब्याल, संध्या ।
विच्छोहो, बिछोहा, विरह ।
वोज्झश्रो, बोज्झा, भार ।
संडी, संटी, वला ।
सत्थरो, सांथरी, समूह ।
सालुश्रं, सालू, शुष्कयवादिशीर्ष ।
सेवाल, सिवाल, पंक ।
हड्डं, हाड, श्रस्थि ।
सोहणी, सोहणी, मांजण, मार्जनी ।

स्वामित्व और प्रकाशन सम्बन्धी घोषणा

१. प्रकाशन स्थान	नई दिल्ली, ७/२०८, रमेश नगर
२. अवधि	त्रैमासिक
३. मुद्रक	राजपाल
राष्ट्रीयता	हिन्दू (भारतीय)
पता	७/२०८, रमेशनगर, नई दिल्ली
४. प्रकाशक	राजपाल
राष्ट्रीयता	हिन्दू (भारतीय)
पता	७/२०८, रमेशनगर, नई दिल्ली
५. सम्पादक	डॉ० रामदत्त भारद्वाज
	मोहनलाल श्रीवास्तव
पता	७/२०८, रमेशनगर, नई दिल्ली
६. स्वामित्व	भारतीय साहित्यकार संघ
	पंजीकरण संख्या एस०–२५६३

मैं राजपाल यह घोषित करता हूँ कि उपर्युक्त विवरण मेरी पूरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सही है।

राजपाल : मुद्रक तथा प्रकाशक

भारत के समाचार पत्र-रजिस्ट्रार द्वारा पंजीकृत
पं० सं० (रजि० नं०) १६७७२/७०

भारतीय साहित्यकार संघ की ओर से श्री राजपाल शास्त्री द्वारा
नाथ प्रिंटिंग प्रैस, बसई दारापुर, दिल्ली में मुद्रित तथा
७/२०८, रमेश नगर से प्रकाशित।